वर्ष ४१] * * * [अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०२४, अगस्त १९६७

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ८.५० विदेशमें १५.६० (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ५० पै० विदेशमें ८० पै० (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
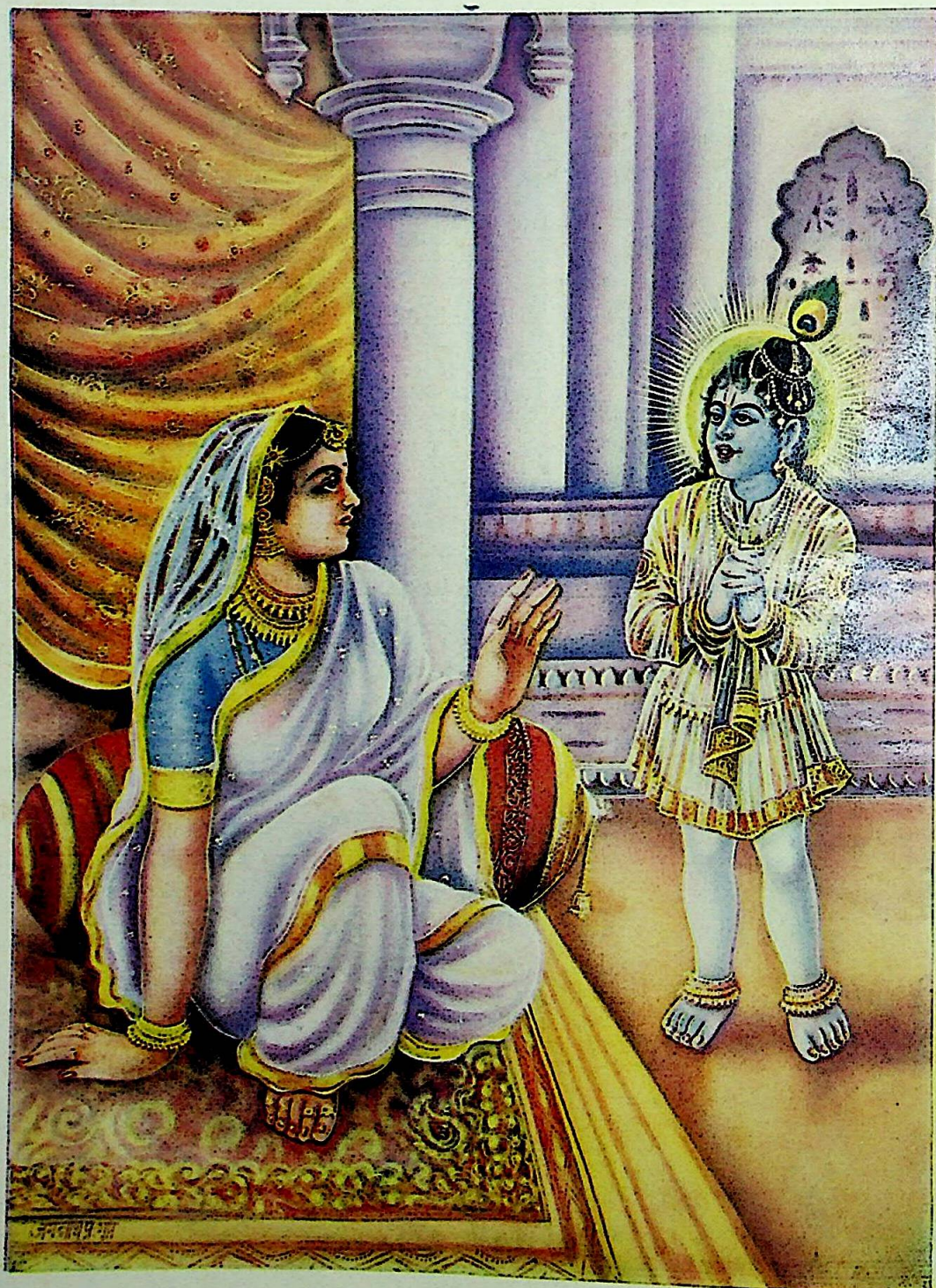
मैया ! मैं माटी नहिं खाई

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अविरतभवभावनातिदूरं भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥
रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं शतपथगोचरभावनाविदूरम् ।
यतिपतिहृदये सदा विभातं रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥

वर्ष ४१ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०२४, अगस्त १९६७ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ४८९

मृद्-भक्षण-लीला

चौ०—एक समै सब गोपकुमारा । राम आदि मिलि करत बिहारा ॥
छं०—मिलि करत सकल बिहार बालक जाइ जसुमति सौं कही ।
सुनु अंब ! कृस्न कृपाल अबहीं भखी मृद देखी मही ॥
सुत हेतु हित कर गहि जसोदा डाटि कह कैसी अही ।
भय पाइ चख अति चपल चितवनि देखि मुख अनुपम कही ॥
तू चपल गात डरात नहिं मृद-भखन तैं काहे करी ।
ए कहत सिगरे सखा तव बलदेव कह साची खरी ॥
हे अंब ! मैं नहिं भखी मृद, ए मृषावादी हैं सबै ।
जो साच मम मुख तैं बिलोकै झूठ फुर जानै अबै ॥
जो साच यह, मुख बाय, तौ हसि कृस्न मुख बायौ महाँ ।
ऐस्वर्य अव्याहत सिरोमनि कृस्न क्रीडा नर तहाँ ॥

(श्रीकृपारामकृत प्राचीन अप्रकाशित भाषा भागवतसे)

याद रक्खो—जहाँ सांसारिक भोगोंकी नयी-नयी इच्छाएँ उत्पन्न होती और आवश्यकताएँ बढ़ती रहती हैं, वहाँ सहज ही अभावका अनुभव होता रहता है। कैसी भी महान् सम्पन्न स्थिति हो, कभी संतोष नहीं होता; और असंतोष ही दुःखका हेतु है।

याद रक्खो—मनुष्यको साधारण, सुगम तथा सादे जीवन-निर्वाहके लिये बहुत अधिक आवश्यकता नहीं होती और उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये इच्छा तथा विधिसंगत कर्म भी करना अनुचित नहीं है। उसमें आपत्ति नहीं है। इस आवश्यकताकी पूर्तिमें बहुत कठिनता भी नहीं होती। व्यसन तथा तृष्णाजनित बढ़ी हुई इच्छा तथा आवश्यकताओंमें जो निरन्तर एक अभावका अनुभव होता रहता है, वह भी इसमें नहीं होता। इसलिये सहज ही जीवनमें सुख रहता है।

याद रक्खो—सुख किसी सम्पत्ति या स्थितिमें नहीं है; सुख है अभावके अनुभवसे रहित संतोषकी वृत्तिमें। यह वृत्ति किसी बाह्य अवस्थाविशेषकी अपेक्षा नहीं करती। प्रत्येक परिस्थितिमें मनुष्य संतुष्ट रह सकता है—तृष्णाजनित अभाव-आवश्यकताकी अग्निके बुझ जानेपर तथा परम सुहृद् भगवान्के मङ्गलमय विधानपर विश्वास करनेपर।

याद रक्खो—अपनी सहज सुखकी स्थितिसे, प्रत्येक परिस्थितिको मङ्गलमय मानने-जाननेकी वृत्तिसे और यथालाभ संतुष्ट रहनेके स्वभावसे विचलित होकर जब मनुष्य विविध भोगोंकी वासना—तृष्णाके जालमें फँस जाता है, जब उसके हृदयमें दुष्पूरणीय तथा उत्तरोत्तर बढ़नेवाली कामनाकी आग जल उठती है, तब किसी भी स्थितिमें वह संतुष्ट नहीं होता—अतएव कभी भी वह दुःखसे मुक्त नहीं हो सकता। उसका संताप—दुःख उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जाता है। इस प्रकार मनुष्य स्वयं ही अनावश्यक भोग-कामनाओंको हृदयमें जगाकर दुःखोंको बुला लेता है और जीवनके अन्तिम श्वासतक, मृत्युके अन्तिम क्षणतक असंख्य दुःखोंसे घिरा रहता है। उसका मन कभी चिन्तारहित, प्रशान्त और संतापशून्य होकर सुखके दर्शन नहीं कर पाता।

याद रक्खो—यहाँ जो भोगोंके अभावकी आगमें जलता हुआ मरता है, मरनेके बाद भी, लोकान्तरमें उसे उसी आगमें जलना पड़ता है। यहाँकी कामना-वासना उसके अंदर वहाँ भी ज्यों-की-त्यों वर्तमान रहकर उसे संतप्त करती रहती है।

याद रक्खो—इसके विपरीत जो अनावश्यक भोग-कामनाओंसे मुक्त है, जिसका मन हर हालतमें संतुष्ट है, जो कभी भी अभावका अनुभव नहीं करता और सदा सहज ही परम सुहृद् भगवान्के मङ्गलमय विधानके अनुसार प्राप्त प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्की कृपाके दर्शन करता रहता है, वह मृत्युके समय भोगोंसे सर्वथा विरत और भगवान्की मङ्गलमयी स्मृतिमें संलग्न रहता है। उसका मन भोगोंके अभावका अनुभव न करके भगवान्के परम सौहार्दका अनुभव करके आह्लादसे भरा रहता है। वह अत्यन्त शान्ति-सुखके साथ देह-त्याग करके जाता है और भगवान्की स्मृतिमें ही मृत्यु होनेके कारण मृत्युके अनन्तर वह निश्चितरूपसे निस्संदेह भगवान्को ही प्राप्त होता है—'मामेवैष्यस्यसंशयम्।'

'शिव'

एक संतका उपदेशामृत

(प्रेषक—माधव)

धन, सम्पत्ति, परिवारको छोड़कर वनमें रहनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यक है लोभ, मोह, मान, काम, क्रोधका त्याग और यह तभी होता है जब साधक विनाशीके परे अविनाशीको जान लेता है, नित्य एकरस रहनेवाले आत्माको जान लेता है।

वाणीके मौनसे शक्ति बढ़ती है, मनके मौनसे अन्तर्दृष्टि खुलती है, बुद्धिके मौनसे 'स्व' के सत्य तत्त्वकी अनुभूति होती है।

निष्काम होकर कर्तव्य-पालनसे अथवा सेवा करते रहनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेसे तत्त्वज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान होनेपर प्रज्ञा स्थिर होती है। प्रज्ञाके स्थिर होनेपर ही परमानन्द परमात्माका निरन्तर बोध होता है।

जो कुछ अनेक है, वही संसार है। इच्छाएँ, वासनाएँ, विचार, कल्प तथा दृश्य अनेक हैं, ये ही संसारकी परिधिमें हैं। विवेक, चैतन्य, ज्ञान, प्रेम एक है। वही 'एक' 'मैं हूँ' के स्वरूपमें विद्यमान है। अनेकताकी लोल लहरोंके नीचे एकताका शान्तिमय धरातल है।

प्रभुके समक्ष केवल अपने 'मैं' को समर्पित करना होता है और संसारके समक्ष जो कुछ प्रभुसे मिला है, उसे अर्पित करना होता है। अपने 'मैं' को समर्पित करनेका साहस कर सको तो अपने 'मैं' के स्थानपर पूर्ण प्रभुको पा जाओगे।

मनुष्यका शरीर एक दीपककी भाँति है और चेतना दीपकमें जलती हुई 'लौ' की भाँति है। मिट्टीके दियेमें ध्यान रहा तो जीवन व्यर्थ है। दीपककी ज्योतिमें ध्यान रहना चाहिये, तब इस चैतन्य ज्योतिमें ही अनन्त प्रभुके दर्शन होते हैं।

जब मनमें व्यर्थ संकल्प-विकल्प एवं व्यर्थ विचार उठते हों, तब प्रभुके प्रिय नाम अथवा अपने इष्टमन्त्रका अधिक-से-अधिक जाप करना चाहिये; फिर व्यर्थ संकल्प एवं व्यर्थ विचार अपने-आप शान्त हो जाते हैं और अन्तःकरणमें प्रियतम प्रभुका 'प्रसाद' प्राप्त होता है।

मूढ़ता दूर होनेपर 'मैं' के स्थानपर 'तू-ही-तू' और 'मेरा' के स्थानपर 'तेरा-ही-तेरा' दीखने लगता है। अपने भीतर प्रभु-सम्बन्धी भावों, विचारोंको भरे रहो; मनको खाली न रक्खो। खाली रखनेसे ही संसार-प्रपञ्च घुस जायगा। जितनी बुराइयाँ होती हैं, वे सूनेपनमें ही होती हैं। इसलिये बुराइयोंसे बचना है तो मनमें पवित्र भाव भरे रहो, सुसंगतिमें घिरे रहो, सदा शुभकर्ममें लगे रहो। अवकाश मिलते ही प्रभुके ध्यानमें, 'स्व' के अध्ययनमें, नामस्मरणमें, जपमें समयको सार्थक करो। व्यर्थमें ही अनर्थ होता है।

संसारमें प्रिय सम्बन्धियोंके संयोगमें, इन्द्रियोंके विषयभोगमें, धन-अधिकारमें सुख माननेवालो! सावधान होकर समझ लो, तुम्हारे सुखका अन्त दुःखमें होगा; क्योंकि जो कुछ तुम्हें मिला है, वह किसी समय अवश्य ही छूट जायगा। जिसे हम नहीं जानते, वही अपना सर्वस्व है; क्योंकि वह हमें जानता है। हमें विश्वास रखना चाहिये कि अपना परमाश्रय एकमात्र वही अकारण-करुणामय प्रभु ही है और वह हमारी प्रत्येक चेष्टाके, प्रत्येक भावनाके तथा प्रत्येक विचारके साथ ही है—वह हमारे विचारों, भावनाओं, चेष्टाओंके मध्यमें ही विद्यमान है—इसका अनुभव हम पूर्ण मौन, शान्त, शून्य होकर ही कर सकते हैं।

अशुभ संकल्पोंका त्याग करो, शुभ संकल्प प्रभुकी कृपासे पूर्ण होंगे। वे संकल्प अशुभ हैं, जिनकी पूर्तिके साधन सुलभ नहीं हैं अर्थात् जिनकी पूर्ति किसी व्यक्तिकी सहायतासे पराधीनतापूर्वक होती है। दूसरोंकी सेवा करना, दान करना, तीर्थयात्रा करना, संतोंका संग करना तथा एकान्त-सेवन करना शुभ है। स्वयं ही तीर्थ-

स्वरूप होकर अपने सङ्गसे दूसरोंको पवित्र बननेकी प्रेरणा लेने दो। शान्त बैठ जाओ। शरीरसे शान्त बैठनेपर शरीरके भीतर जो कुछ स्वतः होता है, तटस्थ होकर देखो। कोई निर्णय, आग्रह, निग्रह न करो। बस, देखते रहो। इस निरीक्षणसे चेतनद्वारा अचेतनमें प्रवेश होता है। देखकर घबरा न जाना, बाहरकी ओर न भागना—निरीक्षणमात्र करते रहना; यहाँ शान्ति एवं धैर्यकी परीक्षा देनी होगी। इस अचेतन स्तरसे ही कामना एवं वासनासे मुक्तिका द्वार मिल जाता है।

परमात्मा तुम्हारी सभी दशाओंमें विद्यमान है। भोगमें, रोगमें, आधि-व्याधि-उपाधिमें—जहाँ कहीं तुम हो, वहीं वह छिपा है। इसी प्रकार तुम जब उसे पुकारते हो, तब वह तुम्हारी पुकारके ही बीचमें है; जब उसे खोजते हो, तब खोजके ही साथ मिला है; जब उसके लिये व्याकुल होते हो; तब व्याकुलताके मध्यमें ही वह है। जब तुम कुछ नहीं होते हो, कुछ नहीं बनते हो, कुछ नहीं चाहते हो—सर्वथा शान्त एवं अन्तर्मुख हो जाते हो, तब वह तुम्हारे समक्ष हो जाता है। जब अपने-आपमें पूर्ण प्रेमके रूपमें नित्य प्राप्त प्रभु अनुभवमें आते रहें, तभी भक्तिकी पूर्णता होती है।

नित्य प्राप्तका दर्शन ही ज्ञान है, नित्य प्राप्तसे निरन्तर मिलन ही भक्ति है।

जड निष्क्रियता और सच्चा समर्पण

(श्रीश्रीमाताजी श्रीअरविन्दाश्रम पांडिचेरी)

'....इस झूठी और निठल्ली आशाका भी परित्याग कर दो कि भागवत-शक्ति तुम्हारे लिये समर्पण भी कर देगी। यह सत्य है—परमोच्च सत्ता अपने प्रति तुम्हारा समर्पण चाहती है, किंतु वह उसे जबरदस्ती लादती नहीं। जबतक अविलोप्य रूपान्तर नहीं हो जाता, तुम किसी भी क्षण भगवान्‌को अस्वीकार करने अथवा अपने आत्मदानको वापिस लेनेके लिये स्वतन्त्र हो, यदि तुम इसके आध्यात्मिक परिणामको भुगतनेके लिये तैयार रहो।' ('माता'—श्रीअरविन्द)

प्र०—अविलोप्य रूपान्तरका क्या अर्थ ?

उ०—रूपान्तर अविलोप्य तब होता है, जब तुम्हारी चेतना इस तरह बदल जाती है कि तुम फिर अपनी पुरानी अवस्थामें लौट नहीं सकते। एक ऐसा क्षण आता है जब परिवर्तन इतना पूर्ण हो जाता है कि तुम जो कुछ पहले थे उस अवस्थामें पुनः लौटना असम्भव हो जाता है।

प्र०—क्या स्वयं रूपान्तरका ही यह अर्थ नहीं कि वह अविलोप्य होता है ?

उ०—रूपान्तर आंशिक हो सकता है। जिस रूपान्तरकी श्रीअरविन्द यहाँ चर्चा करते हैं, उसका अर्थ है चेतनाका पलट जाना। अहंभाव-युक्त होने तथा वैयक्तिक तुष्टिकी ओर मुड़े रहनेके स्थानपर चेतना समर्पण-भावमें भगवान्‌की ओर मुड़ी रहती है। और उन्होंने बड़े साफ तरीकेसे यह बतला दिया है कि आरम्भमें समर्पण आंशिक हो सकता है—हम कुछ भाग समर्पण करते हैं और कुछ भाग समर्पण नहीं करते। किंतु जब सम्पूर्ण सत्ता समग्र रूपमें, अपनी सभी गति-विधियोंमें समर्पण कर चुकती है, केवल तभी समर्पण अविलोप्य हो जाता है। यह है मनोवृत्तिका अविलोप्य रूपान्तर।

प्र०—भागवत-शक्ति और भागवत-बलमें क्या अन्तर है ?

उ०—भागवत-बल भागवत-शक्तिका एक अंश मात्र है; भागवत-बल भागवत-शक्तिका एक गुण है। श्री-अरविन्द यहाँ 'भागवत-शक्ति' शब्द चित्-तपस्,

सर्जनात्मक चेतनाके अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। इसलिये भागवत-बल भागवत-शक्तिका एक अंशमात्र है।

× × × ×

'साधारणतः लोग जड निष्क्रियताको सच्चा समर्पण समझ लेनेकी भूल करते हैं, किंतु जड निष्क्रियतासे कोई भी सच्चा और शक्तिशाली परिणाम नहीं निकल सकता। भौतिक प्रकृतिकी जड निष्क्रियता ही उसे हर अन्धकारमय या अदिव्य प्रभावकी दयापर छोड़ देती है। भागवत-शक्ति अपना कार्य कर सके, इसके लिये एक प्रसन्न, सबल और सहायक समर्पणकी आवश्यकता है।....'

—'माता'

प्र०—प्रसन्न और सबल एवं सहायक समर्पण किसे कहते हैं ?

उ०—तुम जानते हो कि प्रसन्न रहनेका क्या अर्थ है। तुम्हें पता है कि सबल होनेका क्या अर्थ है। तुम जानते हो कि उपयोगी होना किसे कहते हैं। बस, भगवान्‌के प्रति तुम्हारा समर्पण अर्थात् तुम्हारा आत्मदान हर्षपूर्ण हो, प्रसन्नतासे भरा हो, तुम्हें उससे खुशी होनी चाहिये, उसे सबल होना चाहिये; यह नहीं कि तुम उसे दुर्बलता और असमर्थताके कारण करो, वरं तुम्हें एक सबल और सक्रिय संकल्पके साथ समर्पण करना चाहिये और समर्पणको पूरा निठल्ला भी नहीं होना चाहिये—'मैंने समर्पण कर दिया, मुझे जीवनमें अब और कुछ नहीं करना है, मुझे केवल चुपचाप बैठ रहना है, मेरा समर्पण हो चुका है।' इसे सहायक भी होना चाहिये अर्थात् इसे सक्रिय होना चाहिये—इसे सत्ताके रूपान्तरका भार लेना होगा अथवा इसे कोई उपयोगी कार्य करना होगा।

× × ×

'तुम्हारा समर्पण एक जीवित सत्ताका समर्पण होना चाहिये, किसी स्वचालित यन्त्र या यान्त्रिक उपकरणका नहीं।'—'माता'

उदाहरणार्थ, तुम अपनी घड़ीके समर्पणकी बात कह सकते हो—तुम उसमें चाबी देते हो और वह चलती है, किंतु इसे सचेतन सहयोगकी अनुक्रिया नहीं कहा जा सकता।

× × ×

"रूपान्तरको समग्र होना होगा और इसलिये उस सबका त्याग भी समग्र होना होगा, जो इसका विरोध करता।'—'माता'

यह बहुत स्पष्ट है। भावात्मक क्रिया ही पर्याप्त नहीं, परित्यागकी निषेधात्मक क्रियाका भी होना आवश्यक है; क्योंकि तुम तबतक एक स्थायी रूपान्तर नहीं प्राप्त कर सकते, जबतक तुम अपनी सत्ताके भीतर इसके विरोधी तत्त्वोंको आश्रय दिये रहते हो। यदि तुम अन्धकारपूर्ण वस्तुओंको अपने अंदर रखते हो तो वे कुछ समयके लिये वहाँ चुपचाप और निष्क्रिय पड़ी रह सकती हैं—इतना शान्त और स्थिर कि तुम उन्हें कुछ भी महत्त्व नहीं देते; पर एक दिन वे पुनः उठ खड़ी होंगी और तब तुम्हारा रूपान्तर उनके सामने नहीं टिकेगा। आत्मदानकी भावात्मक क्रिया ही नहीं, तुम्हारे अंदर उन वस्तुओंके परित्यागकी निषेधात्मक क्रियाका होना भी आवश्यक है जो तुम्हारे उस आत्मदानका विरोध करती है। तुम्हें इस प्रकार अपने अंदर किसी स्थानपर वस्तुओंको गड़ी नहीं रहने देना चाहिये, जिसमें वे पहला अवसर पाते ही उठ खड़ी हों और तुम्हारे सारे कार्यको नष्ट कर दें। सत्ताके कुछ ऐसे भाग होते हैं, जो ऐसा करना भलीभाँति जानते हैं। प्राणमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो इस दृष्टिकोणसे असाधारण होते हैं। वे शान्त बने रहते हैं, एक कोनेमें छिपे रहते हैं, इस प्रकार सर्वथा चुपचाप और स्थिर पड़े रहते हैं कि तुम समझते हो कि उनका अस्तित्व ही नहीं है; तब तुम सावधान नहीं रहते, तुम अपने रूपान्तर और समर्पणसे संतुष्ट रहते हो, तुम समझते हो कि सब कुछ

ठीक चल रहा है और तब एकाएक एक सुहावने प्रभातमें, बिना कोई चेतावनी दिये, पिटारीमें बंद भूतकी भाँति वस्तुएँ बाहर निकल आती हैं और तुमसे संसार भरकी मूर्खताएँ करवा लेती हैं। वे और भी सबल होती हैं; क्योंकि वे पहले दबी रहती हैं—एक कोनेमें दबी और घुटी पड़ी रहती हैं—वे इसलिये दबी-सी पड़ी थीं, जिसमें तुम्हारा ध्यान उधर आकर्षित न हो। वे बड़े मजेमें खूब शान्त पड़ी थीं और जब तुम्हें उनके आनेकी जरा भी आशा नहीं थी, तभी वे उभर आयीं और तब तुम कहते हो—'ओह मेरा सारा रूपान्तर किस कामका ?' वे वस्तुएँ तो वहाँ थीं ही। वस्तुतः वे वस्तुएँ वहाँ विद्यमान रहती हैं और अपनेको इतनी अच्छी तरह छिपाये रहती हैं कि यदि तुम उन्हें एक सुदीप्त मशाल लेकर न ढूँढ़ो तो तुम्हें पता ही नहीं लगेगा कि वे वहाँ विद्यमान हैं, जबतक कि एक दिन प्रकट होकर वे तुम्हारे सारे कार्यको एक मिनिटमें नष्ट नहीं कर देतीं।

प्र०—क्या ऐसा तब भी होता है, जब व्यक्तिकी अभीप्सा बड़ी तीव्र होती है ?

उ०—अभीप्साको अत्यधिक जागरूक होना होगा।

मैं ऐसे लोगोंको जानती हूँ (बहुतोंको, थोड़ोंको नहीं, मेरा मतलब उन लोगोंसे है जो योग करते हैं)—ऐसे बहुत-से लोगोंको जिनकी अभीप्सा जब-जब सुन्दर होती थी, जब-जब अत्यधिक तीव्र होती थी और उन्हें अपनी अभीप्साका प्रत्युत्तर मिलता था, तब-तब उसी दिन या अधिक-से-अधिक अगले दिन उनकी चेतना बिल्कुल उलट जाती थी और उनके सामने ऐसी वस्तुएँ आ जाती थीं जो उनकी अभीप्साके बिल्कुल विरुद्ध थीं। ऐसा प्रायः सदा ही होता है। ये ही हैं वे लोग जिन्होंने केवल अपने भावात्मक पक्षका ही विकास किया था। ये लोग अभीप्साकी एक प्रकारकी तपस्या करते हैं, सहायता चाहते हैं, उच्चतर शक्तियोंके सम्पर्कमें आनेका प्रयत्न करते हैं और इसमें सफलता प्राप्त करते हैं। उन्हें कुछ अनुभूतियाँ भी प्राप्त होती हैं; किंतु उन्होंने अपने कमरेको बुहारनेकी सावधानी नहीं बरती, वह पहलेकी भाँति ही गंदा बना रहा और तब, स्वभावतः ही जब अनुभूतियाँ चली गयीं तब वह गंदगी पहलेसे भी अधिक बीभत्स हो उठी।

अपने कमरेकी सफाईकी कभी अवहेलना न करो, यह बहुत ही आवश्यक है—आन्तरिक स्वच्छता कम-से-कम उतनी आवश्यक तो है ही जितनी बाह्य स्वच्छता। विवेकानन्दने लिखा है (मूल मुझे ज्ञात नहीं, मैंने केवल फ्रेंच अनुवाद पढ़ा है)—'हर सुबह तुम्हें अपनी आत्माको साफ करना चाहिये और अपने शरीरको साफ करना चाहिये; किंतु यदि तुम्हारे पास दोनोंको साफ करनेका समय न हो तो शरीरको साफ करनेकी अपेक्षा आत्माको स्वच्छ करना अधिक अच्छा है।'

प्र०—यह कैसे जाना जाय कि 'छोटी गंदगियाँ' कहीं छिपी पड़ी हैं या चली गयीं ?

उ०—इसके लिये तुम सदा छोटे-छोटे परीक्षण कर सकते हो। मैंने कहा था कि तुम्हें एक मशालका एक तीव्र प्रकाशका प्रयोग करना चाहिये। तब तुम्हें अपने अंदर चक्कर लगाना चाहिये। यदि तुम बहुत सतर्क हो तो तुम्हें वहाँ बड़ी आसानीसे कुत्सित कोने दिखायी देंगे। मान लो कि तुम्हें कोई सुन्दर अनुभूति हुई और तुम्हारी अभीप्साके प्रत्युत्तरमें अकस्मात् ही एक बहुत बड़ी ज्योति तुम्हारे सामने प्रकट हुई; तुम आनन्द, शक्ति, प्रकाश और सौन्दर्यसे अपनेको बिल्कुल आप्लावित अनुभव करते हो और तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है कि तुम अब बस, रूपान्तरित होने ही वाले हो·······और तब वह अनुभूति लुप्त हो जाती है, ऐसा होता है न ? विशेषतः आरम्भमें—एकाएक वह बंद हो जाती है। और तब, जब कि तुम सतर्क नहीं होते, तुम अपने आपसे कहते हो—'देखो तो, वह आयी और चली भी गयी, बेचारा मैं! वह आयी और चली गयी। उसने मुझे केवल उस वस्तुका स्वाद भर चखाया और फिर मुझे छिटकाकर चली गयी।' ऐसा कहना मूर्खता है। कहना यह

चाहिये—'अहो, मैं इसे रख नहीं सका, और मैं इसे क्यों नहीं रख सका ?' तब तुम अपनी मशाल लो और अपने अंदर चक्कर लगाओ तथा चेतनाके परिवर्तन और उन क्रियाओंके बीचके घनिष्ठ सम्बन्धको खोजते फिरो, जो अनुभूतिके लोपकी सहवर्ती थीं। और यदि तुम अत्यधिक सतर्क होते हो और बड़ी सच्चाईसे अपने अंदर चक्कर लगाते हो तो तुम्हें एकाएक पता लगेगा कि प्राणके किसी भागमें या मनके किसी भागमें या शरीरके किसी भागमें कोई वस्तु रूपान्तरका अनुसरण नहीं कर पायी, इस अर्थमें कि मनमें अडोल और सतर्क रहनेके स्थानपर किसी वस्तुने सोचना आरम्भ कर दिया था—'अहो कौन-सी अनुभूति है यह ? क्या मतलब है इसका ?'········(जिसे यह 'समझना' कहता है)। या फिर प्राणमें किसी वस्तुने अनुभूतिका उपभोग करना आरम्भ किया था 'कितनी अच्छी है यह ! कितना मैं चाहूँगा कि यह और तीव्र हो, कितना अच्छा होता यदि यह सदा बनी रहती, कितना········' अथवा शरीरके किसी भागने कहा था, 'ओह, इसे सहना जरा कठिन है, कितनी देरतक मैं इसे बनाये रख सकूँगा ?' यह शायद इतना स्पष्ट नहीं होता जितना कि मैं तुमसे कह रही हूँ; किंतु यह कुछ जरा-सी इसी प्रकार दुबकी पड़ी रहती है। तुम्हें सदा इन तीनोंमेंसे कोई एक या ऐसी ही अन्य वस्तुएँ दिखायी देंगी। अतः यहीं मशालकी आवश्यकता है—कहाँ है वह दुर्बल स्थान ? कहाँ है अहंभाव ? कहाँ है कामना ? कहाँ है वह पुरानी गंदगी, जिसका बना रहना अब हम नहीं चाहते ? कहाँ है वह वस्तु, जो अपनेको दे देने, खोलने, खो देनेके स्थानपर अपने ऊपर ही केन्द्रित रहती है, जो कुछ घटा है उससे फायदा उठाना चाहती है, जो अनुभूतिके फलको अपने लिये प्राप्त करना चाहती है ? या अन्यथा, जो बहुत दुर्बल है, क्रियाका अनुसरण करनेके लिये अत्यधिक कठोर एवं अनम्य है ?········ यही है वह बात, तुम लीक पकड़कर अब उसका पता पा लेते हो; वह प्रकाश जो तुम्हें अभी-अभी मिला था, उसे तुम वहाँ डालना आरम्भ करते हो—यही कार्य तुम्हें करना चाहिये, प्रकाशको ठीक वहीं डालो और इस तरहसे डालो कि वह इससे अपनी रक्षा न कर सके।

यह तुम्हें पहले ही दिन प्राप्त नहीं हो जायगा; किंतु तुम इस कार्यको आग्रहपूर्वक करते रहो और धीरे-धीरे या शायद एक दिन अचानक ही वह वस्तु लुप्त हो जायगी और तब कुछ समयके बाद तुम अनुभव करने लगोगे कि तुम कोई और ही व्यक्ति हो।

किंतु यदि तुम उस वृत्तिको अपनाओ, जिसकी मैं पहले चर्चा कर चुकी हूँ, अर्थात् यदि तुम दोष भागवत-कृपा और ज्योतिपर लगाओ, यदि तुम कहो,—'लो, वह चली गयी, उसने मुझे यहींपर गाड़ दिया,' तो निश्चय समझो कि तीस, चालीस, पचास वर्षके बाद भी तुम सदा वहीं-के-वहीं रहोगे, जरा भी नहीं बदलोगे। एक ऐसी वस्तु वहाँ सदा रहेगी, जो अचानक ही उठकर तुम्हारी अनुभूतिको चट कर जायगी और तब आगे न बढ़कर तुम एक ही जगहपर अपने पाँव पटकते रहोगे; क्योंकि तुम आगे बढ़ नहीं सकते। किंतु यदि तुम तत्काल ही अवसरका लाभ उठाओ····याद रखना, कभी-कभी इससे थोड़ा कष्ट भी होता है; यदि तुम निर्ममताके साथ उस वस्तुपर प्रकाश डालो जो अनुभवका उपभोग करना चाहती है अथवा मानसिक बुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त करना या अनुभूतिपर प्रभुत्व जमाना चाहती है अथवा जो अनुभूतिको ग्रहण करने और उसे सहन करने या काफी शीघ्रतासे बदलनेके लिये आवश्यक प्रयत्न करनेमें अत्यधिक आलस्यपूर्ण है, यदि तुम उस वस्तुपर कड़ाईके साथ, चेतनाके प्रकाशसे युक्त अपनी संकल्प-शक्तिका प्रयोग करो तो इससे थोड़ा कष्ट हो सकता है। और यदि तुम कहो—'ओह, इतनी शीघ्रताके साथ नहीं—मुझे विश्राम करनेकी आवश्यकता है, मैंने व्यर्थ ही अपनेको थका डाला,' तो तुम्हें फिरसे सब कुछ आरम्भ करना

पड़ता है। उसके वापिस आनेमें कभी-कभी कई दिन या महीने भी गुजर जाते हैं और कभी-कभी तो कई वर्ष बीत जाते हैं। कभी-कभी यदि तुम अपनी अभीप्सामें जरा अधिक सक्रिय एवं तीव्र होते हो तो वह जल्दी भी आ सकती है। किंतु यदि तुम उसी मूर्खताको दुहराते रहो तो वही बात बार-बार घटती रहेगी। पर यदि तुम तत्काल ही सावधान हो जाओ और जब मन, जो कुछ घट रहा है उसे जाननेके लिये सिर उठाने लगे, तब तुम उससे कहो—'चुप रह, चुप रह तू,' तब अनुभूति चालू रह सकती है। जब प्राण यह कहना आरम्भ करे—'मुझे बहुत चाहिये, बहुत अधिक और भी अधिक····', तो तुम उसे कहो—'शान्त रह, शान्त रह, हिल-डुल मत, शान्त हो जा, उत्तेजित मत हो।' अथवा जब शरीर कहे—'ओह, मैं पिसा जा रहा हूँ····'—कृपया जरा डटे रहो, तुम कायर हो, तुम परीक्षा सह सकना नहीं जानते। यदि तुम यह कार्य समयपर, आवश्यक शान्तिके साथ, आवश्यक निश्चय एवं संकल्पके साथ करनेमें सफल होओ तो तुम्हें कुछ उपलब्धि अवश्य होगी। किंतु यदि तुम यों ही निष्क्रिय, आलसी और भाग्यवादी होओ और कहो—'अब मैं अपनेको समर्पित कर चुका; जो होना होगा वह होगा; जो होगा देखा जायगा' बस, तब जान रक्खो, मैं तुम्हें पचास वर्ष देती हूँ जिसमें तुम्हारा आधा कदम भी आगे परिवर्तन नहीं होगा।

····यह उतना सरल नहीं है····यदि तुम इसे करना चाहते हो तो तुम्हें इसे ठीकसे करना होगा, अन्यथा इसके लिये कष्ट करनेसे कोई लाभ नहीं। अधूरा कार्य करनेसे कोई लाभ नहीं; करना है तो ठीकसे करना चाहिये।

निश्चय ही और भी कई मार्ग हैं। तुम केवल अपनेको पूर्ण करनेकी चेष्टा ही नहीं कर सकते, तुम एक अधिकाधिक तन्मय करनेवाले कार्यमें अपने-आपको भूलनेका प्रयत्न कर सकते हो। अर्थात् जो कार्य तुम करो; उसे भगवान्‌के प्रति अर्पण करके करो, निःस्वार्थ भावसे, पर एक परिपूर्णताके साथ, आत्मदानके साथ, अपनेको पूर्णतः विस्मृत करके—अपने विषयमें कुछ न सोचकर व्यक्ति जो कार्य करता है, केवल उसीके विषयमें सोचे। तुम जानते हो, मैं तुम्हें यह पहले ही कह चुकी हूँ; यदि तुम कोई अच्छा कार्य करना चाहते हो, चाहे जो भी हो वह, किसी भी प्रकारका कार्य हो वह, छोटेसे छोटा कार्य—खेल खेलना, पुस्तक लिखना, चित्रकारी अथवा संगीतका अभ्यास करना, दौड़में भाग लेना, जो भी हो वह, यदि तुम उसे ठीकसे करना चाहते हो तो तुम्हें वही बन जाना होगा जो तुम कर रहे होते हो, और तुम्हें वह छोटा-सा व्यक्ति नहीं बना रहना होगा जो अपने कार्यका मात्र साक्षी होता है; क्योंकि यदि तुम केवल साक्षी हो तो तुम····तो तुम अभीतक अपने अहंकी ओरसे आँखें मीचे पड़े हो। यदि तुम स्वयं वही बन जाते हो जो तुम कर रहे हो, तो वह एक बहुत बड़ी प्रगतिका चिह्न है। अत्यन्त छोटे-से-छोटे ब्यौरेमें भी इसका अभ्यास करना चाहिये। एक रोचक उदाहरण लो। तुम एक बोतलको भरना चाहते हो। तुम अपनेको एकाग्र करते हो। (तुम इसे एक अनुशासनके रूपमें, एक व्यायामके रूपमें कर सकते हो) तुम एक बोतलको दूसरी बोतलसे भरना चाहते हो। जबतक तुम वह बोतल होते हो जिसे तुम्हें भरना है, और वह बोतल जिसे तुम उँड़ेल रहे हो और उँड़ेलनेकी क्रिया भी, जबतक तुम इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं होते, सब कुछ ठीक चलता है। किंतु दुर्भाग्यवश यदि तुम क्षणभरके लिये भी यह सोचते हो, 'अहो, सब ठीक चल रहा है, मैं ठीकसे कार्य कर रहा हूँ,' तो अगले ही क्षण वह छलककर गिरने लगता है। सभी वस्तुओंके साथ ऐसा ही होता है, सभी वस्तुओंके साथ। इसी लिये कर्म, अनुशासनकी शिक्षाका एक बड़ा अच्छा

तरीका है; क्योंकि यदि तुम कर्म ठीकसे करना चाहते हो तो तुम्हें कर्म करनेवाला कोई व्यक्ति न होकर स्वयं वह कर्म ही बन जाना पड़ेगा। नहीं तो, तुम उस कर्मको भलीभाँति कभी भी नहीं कर सकोगे। यदि तुम 'कर्म करनेवाला व्यक्ति' ही बने रहो और साथ ही तुममें विचार भी चक्कर काटते रहें तो तुम निश्चय रख सकते हो कि यदि तुम तुनुक वस्तुओंमें हाथ लगाओगे तो वे टूट जायँगी, यदि तुम खाना पका रहे हो तो वह जल जायगा, यदि तुम खेल रहे हो तो सभी गेंदें तुम्हारे हाथसे बहक जायँगी। इन्हीं सब बातोंके कारण कर्म करना एक बड़ा भारी अनुशासन है; क्योंकि यदि तुम सचमुचमें किसी कर्मको अच्छी तरह करना चाहते हो तो अच्छी तरह करनेका एकमात्र तरीका यही है।

उदाहरणार्थ एक ऐसे आदमीको लो, जो कोई पुस्तक लिख रहा है। यदि वह अपनेको पुस्तक लिखते हुए देखने लगे तो तुम यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि वह पुस्तक कितनी नीरस होगी। उसमें तत्काल ही उस छोटेसे मानवी व्यक्तित्वकी गन्ध आ आयगी, जो वहाँ विद्यमान है और उसका सारा मूल्य नष्ट हो जायगा। जब कोई चित्रकार चित्र बना रहा होता है, उस समय यदि वह अपनेको चित्र बनाते हुए देखने लगे तो चित्र कभी अच्छा नहीं बनेगा; वह सदा चित्रकारके व्यक्तित्वका ही एक प्रकारका प्रक्षेप होगा। उसमें कोई जीवन नहीं होगा, न कोई बल और न कोई सौन्दर्य ही। किंतु यदि वह एकाएक वही वस्तु बन जाय, जिसे वह व्यक्त करना चाहता है, यदि वह स्वयं तूलिका, रंग, कैनवस, चित्रका विषय, बिम्ब, वर्ण, मूल्य—सब कुछ ही बन जाय और पूर्णतया उसके अंदर समा जाय तथा उसीमें निवास करने लगे, तो वह एक विलक्षण वस्तु तैयार करेगा।

सभी वस्तुओंके लिये, सभीके लिये यही बात है। ऐसी कोई भी चीज नहीं है, जो यदि ठीकसे की जाय तो वह एक यौगिक अनुशासन न बन सके और यदि ठीकसे न की जाय तो तपस्यातकसे कोई लाभ नहीं निकलेगा और न वह तुम्हें किसी लक्ष्यकी ओर ले जायगी; क्योंकि यहाँ भी वही बात है—यदि तुम तपस्या करते हुए हर घड़ी अपनेको देखते रहो और कहते रहो, 'क्या मैं प्रगति कर रहा हूँ? क्या पहलेसे अब अधिक अच्छा चल रहा है? क्या मुझे सफलता मिलेगी?....' तब तो यह तुम्हारा 'अहं' ही है जो अधिकाधिक फूलता जाता है और समूचे स्थानको घेर लेता है और किसी और वस्तुके लिये वहाँ स्थान नहीं बचता।....आध्यात्मिक 'अहं' सबसे अधिक बुरा होता है; क्योंकि वह अपनी तुच्छताके प्रति पूर्णतः अचेतन होता है, उसे यह विश्वास होता है कि वह यदि पूर्णतया दिव्य नहीं तो एक बिलकुल उच्च कुछ अवश्य है!

अतः, जब तुम स्कूलमें होते हो तब तुम्हें वह एकाग्रता बन जाना चाहिये, जो उस सबको ग्रहण करनेकी चेष्टा करती है, जो अध्यापक कहता है अथवा जो विचार तुम्हारे अंदर प्रवेश करता है या जो ज्ञान तुम्हें प्रदान किया जाता है, वही तुम्हें बन जाना चाहिये। तुम्हें अपने विषयमें कुछ नहीं सोचना चाहिये; सोचना चाहिये तुम्हें उसके विषयमें, जो तुम सीखना चाहते हो। और तब तुम देखोगे कि तुम्हारी क्षमताएँ तत्काल ही दुगुनी हो जायँगी।

जो वस्तु तुम्हारे अंदर हीनताकी, सीमाकी, क्षुद्रताकी, असमर्थताकी भावना सबसे अधिक उत्पन्न करती है, वह है अपने ऊपर सदा केन्द्रित होना, वह है तिलभरके अपने अहंकी सीमाओंमें अपनेको बंद कर लेना। तुम्हें अपनेको विशाल बनाना होगा, अपने द्वार खोलने होंगे और सबसे अच्छा ढंग है अपने-आपपर केन्द्रित होनेकी जगह उस कार्यपर अपने-आपको एकाग्र करना जो तुम कर रहे हो।

परम पुरुषार्थका साधन

(लेखक—प० पू० आत्मनिष्ठ श्रीरङ्गनाथ महाराज परभणीकर)

आत्म राजू तव। ज्ञान मात्रचि भरीव।
आता ज्ञाने ज्ञानासी खेव। कैसेनी दिजे॥

(अमृतानुभव ६। ८७)

अर्थात् 'आत्मा ज्ञानमय है; इसको ज्ञानका विषय; ज्ञेय कैसे बना सकते हैं?' श्रीज्ञानेश्वर महाराज अध्यात्मशास्त्रके व्याख्याता हैं; उन्होंने अपने ग्रन्थमें अध्यात्मशास्त्रकी विवेचना की है। वे अपने श्रीमुखसे स्वयं एक अभङ्गमें कहते हैं—

अध्यात्म विद्येचे दाविलेसे रूप। चैतन्या चा दीप उजाळिला। अर्थात् अध्यात्म विद्या दीपकके समान है, जिससे चैतन्यका प्रकाश होता है।

अध्यात्मविद्याका अर्थ है—ब्रह्मविद्या, जिसमें अद्वैत-सिद्धान्तका प्रतिपादन है। श्रीएकनाथजी महाराज कहते हैं—एक अद्वितीय ब्रह्म पाही। आणिक दुसरें काहीं नाहीं। प्रपंच मिथ्या वस्तू चें ठायीं। हें प्रमाण पाही वेद वाक्य॥

अर्थात् ब्रह्म एक और अद्वितीय है, उसके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। प्रपञ्च वस्तुतः मिथ्या है। इसका प्रमाण वेदवाक्य है।

एकका अर्थ है स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदसे रहित अस्ति-भाति-प्रियवस्तु। पञ्चदशीमें लिखा है—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादिभिः॥

उदाहरणके द्वारा इसको स्पष्ट करते हैं। वृक्ष अनेक प्रकारके होते हैं, उनका जो परस्पर भेद होता है, उसे 'सजातीय भेद' कहते हैं। ब्रह्म कोई दूसरा नहीं है, अतएव ब्रह्ममें 'सजातीय भेद' नहीं है। वृक्ष और पत्थर, ये दोनों एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न हैं। इस भेदको विजातीय भेद कहते हैं। ब्रह्म-जैसी दूसरी त्रिकालाबाधित सत् वस्तु नहीं है। अतएव ब्रह्ममें विजातीय भेद भी नहीं है। एक ही वृक्षके पत्र, पुष्प, फल आदि अवयव-भेद होते हैं, इस भेदको ही 'स्वगत भेद' कहते हैं। ब्रह्म तो निरवयव, निर्विकार, निराकार, अनन्त, अखण्ड, सर्वत्र ओत-प्रोत है; उसमें 'स्वगत भेद' कैसे होगा? सारांश यह है कि ब्रह्म स्वगत-सजातीय-विजातीय-भेदसे रहित है। वही एक अस्ति-भाति-प्रियरूप है। 'अस्ति'का अर्थ है—त्रिकालाबाधित सत्। 'भाति' का अर्थ है—अपनी सिद्धिमें अन्यकी अपेक्षा न रखनेवाला और प्रियका अर्थ है—परम प्रेमास्पद वस्तु। यह तत्त्व-चिन्तनसे समझमें आवेगा। अनन्त, अखण्ड, व्यापक वस्तु एक ही हो सकती है। अनन्त पदके अर्थको ध्यानमें लाते ही वस्तुके एकत्वका बोध आसानीसे हो जाता है।

श्रीएकनाथ महाराजने अपनी ओवीके दूसरे चरणमें कहा है—'आणिक दुसरें काहीं नाहीं।' इसका श्रुति प्रमाण है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' ब्रह्मका ही 'अनन्त' विशेषण है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म अद्वितीय है। इसीको शास्त्रमें अजातवादकी संज्ञा दी गयी है, अजात-वादका सिद्धान्त है कि जगत् हुआ ही नहीं, जगत् हो नहीं सकता। यदि कहिये कि जगत् हुआ है तो प्रश्न खड़ा होता है कि उसका कारण कौन है? यदि कहिये कि इसका ब्रह्म कारण है तो ब्रह्म निर्विकार है और निर्विकार ब्रह्म कारण नहीं हो सकता। निर्विकार ब्रह्मको कारण मान लेनेमें व्याघात दोष आ जायगा। जैसे कोई आदमी कहे कि 'मेरे मुखमें जिह्वा नहीं है, मैं गूँगा हूँ' तो इसमें व्याघात दोष हो जायगा; क्योंकि गूँगा अपने मुखसे अपनेको गूँगा कह नहीं सकता। जिस प्रकार गूँगेका स्वयं बोलकर कहना असम्भव है, वैसे ही ब्रह्मको कारण कहना असम्भव है; क्योंकि इससे वह निर्विकार नहीं रह सकेगा। विकारी वस्तु ही किसी वस्तुका कारण बन सकती है।

इसपर आशङ्का होती है कि यह ठीक नहीं; क्योंकि जगत्के पहले एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है और जगत्की प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा प्रतीति होती है। अतएव जगत्का कारण ब्रह्म क्यों न कहा जाय? इसका उत्तर श्रीएकनाथ महाराज अपनी ओवीके तीसरे चरणमें देते हैं—

'प्रपञ्च मिथ्या वस्तूचें ठायीं'।

सारांश यह है कि तात्त्विक दृष्टिसे प्रपञ्च (जगत्) नामक कोई वस्तु है ही नहीं। एकनाथजी महाराजका एक और प्रमाण लीजिये—

प्रपंच एक झाला होता। ही समूळ मिथ्यावार्ता।
पुढें होईल मागुता। हे कदा कल्पांति घडेना॥

अर्थात् 'प्रपञ्च (जगत्) कभी उत्पन्न हुआ, यह बात बिल्कुल निराधार और मिथ्या है। विवेचन कीजिये तो

असत् सिद्ध होता है, इसका किसी कल्पमें कभी सृजन ही नहीं हुआ।' यही अजातवादका सिद्धान्त है।

इसपर प्रश्न होता है कि 'आप प्रपञ्च (जगत्) के न होनेकी बात करते हैं और हम अपनी आँखों इसको प्रत्यक्ष देख रहे हैं; इसकी संगति कैसे लगेगी ?' अब सिद्धान्ती एक दृष्टान्तद्वारा समझाता है—

एक रज्जु पड़ी है। देखनेवालेने उसे सर्प मान लिया। अब आप सोचें कि उसे जब सर्पकी प्रतीति हो रही है, सर्प दीख-सा रहा है, तब भी वह वस्तुतः रज्जु ही देखता है। सर्पके न होनेपर भी जिसे सर्पकी अनुभूति हो रही है, उसकी दृष्टि सर्पाकार बन गयी है, उसे सर्प सत्य-सा प्रतीत होता है। उसे डरते देखकर एक दूसरा मनुष्य बोल उठा— 'अरे बाबा ! यह सर्प नहीं है, रज्जु है।' उसकी दृष्टिमें सर्पकी प्रतीति नहीं हुई। उसने रज्जु हाथमें उठाकर उसे दिखला दी। जो सर्प मानकर डर रहा था, उसकी समझमें आ गया कि रज्जुको नासमझीसे वह सर्प मान बैठा था और डर रहा था।

यहाँ सामने एक ही वस्तु रज्जु है और द्रष्टा दो हैं; दोनोंको दो प्रकारकी अनुभूति हो रही है, एक उसे रज्जु देखता है और दूसरा सर्प। अब यह प्रश्न होता है कि ऐसा हुआ क्यों। इसका उत्तर शास्त्रकार देते हैं। यह जो प्रतीति होती है, इसको शास्त्रीय भाषामें ख्याति कहते हैं। ख्याति पाँच प्रकारकी होती है—

(१) असत्-ख्याति—शून्यवादी कहते हैं कि रज्जुमें सर्प न होते हुए भी दीखता है, अतएव यह असत् ख्याति है।

परंतु ऐसी कोई वस्तु नहीं दीख पड़ती जो है ही नहीं। उदाहरणके लिये वन्ध्या-पुत्र, शशशृङ्ग, खपुष्प आदि असत् पदार्थ कभी नहीं दिखलायी देते। पर यहाँ तो सर्पकी प्रतीति हो रही है। फिर इसे वन्ध्या-पुत्र-जैसा असत् कैसे कहें ?

(२) आत्मख्याति—क्षणिक विज्ञानवादीके मतसे क्षण-क्षण परिवर्तनशील बुद्धि ही सर्पाकार हो गयी। यह प्रतीति ही आत्मख्याति है।

परंतु ऐसी बात नहीं है, सर्पकी प्रतीति बहुत देरतक रही। यदि क्षणिक बुद्धि मानें तो एक क्षण दीखनेके बाद दूसरे क्षण उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। किंतु ऐसा है नहीं, अतएव आत्मख्यातिका सिद्धान्त अनुभवके विरुद्ध है।

(३) अन्यथा-ख्याति—न्यायशास्त्रके मतसे रज्जुकी ही अन्यथा अर्थात् सर्परूपमें प्रतीति होती है।

किंतु यह कहना नहीं बनता; क्योंकि ज्ञानका प्रकार ज्ञेयके अनुसार होता है। यहाँ ज्ञेय तो रज्जु है और ज्ञान सर्पका हो रहा है, यह कैसे सम्भव है ? यह सिद्धान्त भी अनुभवके विरुद्ध है।

(४) अख्याति—मीमांसक कहते हैं कि जिस समय रज्जुका 'इदं' रूपसे सामान्य ज्ञान हुआ, उसी समय सर्पका स्मरण हुआ। यहाँ इदं-अंशमें प्रत्यक्ष, और सर्प-अंशमें स्मृति होनेसे भेदज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि रज्जुके विशेष अंशका भान नहीं है और सर्प-अंशका स्मरण है। स्मरण-अंशमें तथ्यांश लुप्त हो जानेसे ज्ञानके विषय और ज्ञानमें भिन्नता आ गयी। इस ज्ञानमें विषयका ग्रहण ही नहीं हुआ। इसको मीमांसाशास्त्रमें भेदाग्रह, असम्बन्धाग्रह या भेदज्ञानाभाव कहते हैं। (इसका विस्तारपूर्वक विवेचन वृत्तिप्रभाकर ग्रन्थकी सातवीं किरणमें आया है।) मीमांसक-मतसे इस अख्यातिमें चार कारणोंसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीति हुई है—(१) रज्जुके इदंरूपका सामान्य ज्ञान, (२) सर्पांशमें स्मरण, (३) उभय विषयोंका भेदज्ञानाभाव और (४) उभय ज्ञानका भेदज्ञानाभाव।

परंतु मीमांसक-मत अनुभव-सिद्ध नहीं है; क्योंकि स्मृतिका विषय सम्मुख नहीं होता और प्रकृत स्थलमें सर्प सामने दीख रहा है, इसको स्मृतिरूप कैसे कहें ?

(५) सत् ख्याति—इस सिद्धान्तके अनुसार जिस सर्पकी प्रतीति होती है, वह सत् है। सर्प और रज्जु दोनों सावयव हैं। सृष्टिके सब पदार्थ पञ्च महाभूतोंके द्वारा बने हैं। सर्प और रज्जु दोनों अपने-अपने अवयवोंके द्वारा प्रतीत होते हैं। सर्पकी प्रतीति भी सत् प्रतीति है; असत्‌की प्रतीति नहीं होती।

परंतु यह कथन भी समीचीन नहीं है; क्योंकि यदि सर्प सत्य होता तो रज्जु-ज्ञान होनेके बाद सर्पके त्रैकालिक अत्यन्ताभावका निश्चय कैसे होता ? यदि मृग-जल सत्य होता तो वहाँकी जमीन गीली हो जाती; इसलिये यह मत भी दोषपूर्ण है।

यह जो पाँच प्रकारकी ख्याति बतलायी गयी, इनमेंसे किसी-न-किसी मतके माननेवाले अधिकांश लोग हैं। परंतु

विवेकशील पुरुष सत्-असत्को कसौटीपर कसकर सत् सिद्धान्तको मानकर उसपर आचरण करता है; असत्का त्याग करता है। यहाँ वास्तविक सिद्धान्त यह है कि रज्जु और सर्पके दृष्टान्तमें रज्जुको वास्तवरूपमें न समझनेके कारण ही उसमें सर्पका भ्रम होता है। ठीक इसी प्रकार परमात्माके वास्तवस्वरूपके ज्ञानके अभावमें जगदाभास या जगत्की प्रतीति होती है। श्रीसंत तुकाराम महाराज कहते हैं—

'रज्जू सर्पाकार भासियले जगडम्बर'—अर्थात् न होनेपर भी जैसे सर्प रज्जुमें आभासित होता है, उसी प्रकार जगत्का भी भ्रम हो रहा है। रज्जुमें सर्पाभास कैसे होता है? इसका विचार कीजिये।

रज्जुमें सर्पाभास जिसे होता है, उसे मानना पड़ेगा कि रज्जुका ज्ञान और अज्ञान दोनों ही है। उसे रज्जुके इदं-अंशका ही ज्ञान है; यदि रज्जुका स्पष्ट ज्ञान होता तो उसमें सर्पाभास हो ही नहीं सकता; क्योंकि पूर्ण अन्धकार-में जहाँ रज्जुका बिल्कुल ही ज्ञान नहीं होता, वहाँ सर्पकी प्रतीति नहीं होती। यहाँ यह समझनेकी बात है कि असत् उसे कहते हैं, जिसकी कभी प्रतीति नहीं होती, जैसे वन्ध्या-पुत्र, खपुष्प आदि। परंतु रज्जुमें सर्पकी प्रतीति हो रही है, इसलिये इसे असत् नहीं कह सकते। और जिसका कभी बाध नहीं होता, उसे सत् कहते हैं। यहाँ रज्जुका ज्ञान होनेपर सर्पकी प्रतीति बाधित हो जाती है, इसलिये इसे सत् कहना भी ठीक नहीं है और सत्-असत्—दोनों एक स्थलमें नहीं हो सकते। अतएव प्रतीतिका विषय और बाध योग्य प्रकारकी चौथी कोटि माननी पड़ेगी। इसीको शास्त्रमें अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं और इसका कारण जो अज्ञान है, उसे भी अनिर्वचनीय कहते हैं।

जगत्को समझनेके लिये इस दृष्टान्तको ठीक-ठीक समझना जरूरी है; क्योंकि जैसे रज्जुको न समझनेसे सर्पाभास उत्पन्न होता है, उसी प्रकार परमात्माको न समझनेसे जगत्की प्रतीति होती है। कुछ शास्त्रकार कहते हैं कि जगत् कार्य है। परंतु इसमें अनेक प्रश्न उठते हैं—जगत्को किसने बनाया? किस वस्तुसे बनाया? कहाँ बैठकर बनाया? किसलिये बनाया? जगत्में बैठकर जगत्को बनाया या जगत्के बाहर कहीं बैठकर जगत्को बनाया इत्यादि? इसका उत्तर आरम्भवादी दार्शनिक देते हैं कि जैसे जुलाहा सूतसे वस्त्र बनाता है, कुम्भकार मिट्टीसे घट बनाता है, उसी प्रकार ईश्वरने अपनी इच्छासे परमाणुओंके द्वारा जगत्की सृष्टि की। परिणामवादी कहते हैं कि जैसे दूधसे दही बनता है, वैसे ही प्रकृतिका परिणाम यह जगत् है। यह परिणामवाद सांख्य-मत है, इसके अनुसार प्रकृति या प्रधान सत्य है। परंतु प्रकृति स्वयं जड है, अतएव वह कार्य करनेमें स्वतन्त्ररूपसे समर्थ नहीं हो सकती। कुछ लोग शुद्ध चैतन्यका परिणाम जगत्को मानते हैं; परंतु शुद्ध चैतन्य निर्विकार है, अतएव उसका परिणाम होना असम्भव है। ये सब सिद्धान्त अनवस्था, असम्भव आदि दोषोंसे युक्त हैं।

दृष्टान्तानुसार रज्जुके विशेषरूपके अज्ञानसे सर्पकी प्रतीति होती है। इसी प्रकार परमात्माके विशेषरूपके अज्ञानसे जगत्की प्रतीति होती है। जिस प्रकार रज्जुके विशेषरूपके ज्ञानसे सर्प-भ्रमकी निवृत्ति होती है, ठीक वैसे ही ब्रह्मके विशेषरूपके ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हो जाता है और ज्ञानसे जो निवृत्त होता है, वह अध्यस्त होता है। इसीको कल्पित या मिथ्या कहते हैं। सारांश यह है कि रज्जुका अज्ञान और तत्कार्य सर्प—ये दोनों ही मिथ्या हैं। वैसे ही परमात्मस्वरूपका अज्ञान कल्पित यानी मिथ्या है और इसका कार्य जगत् भी मिथ्या है। इसी कारण श्रीएकनाथजी महाराजने कहा है—

'प्रपंच मिथ्या वस्तू चें ठायीं।'

और इसके प्रमाणमें उसी ओवीके चतुर्थ चरणमें कहते हैं—'हें प्रमाण पाही वेदवाक्य।' अर्थात् शब्द-प्रमाणसे, वेदवाक्यसे इसका प्रतिपादन होता है।

अध्यात्मशास्त्रको समझ सके तो एक ही श्लोक या ओवीसे समझमें आ सकता है। परंतु यह समझना आसान नहीं है; यदि समझमें आ भी गया तो जँचना कठिन है। यदि जँच भी गया तो उसमें तन्मय होना कठिन होता है। हम जिस प्रपञ्चमें जीवन बिता रहे हैं, उस प्रपञ्चका फल अनर्थ है—यह हमारे ध्यानमें नहीं आता। इसीसे अध्यात्म-साधनमें अभिरुचि नहीं होती। वस्तुतः इस साधनामें अनधिकारी मनुष्य प्रगति नहीं कर सकता। इसलिये पहले अधिकारी बनकर अध्यात्मके अभ्यासमें अन्तरङ्गी बननेकी आवश्यकता है। श्रीज्ञानेश्वर महाराज भी कहते हैं—

अध्यात्मशास्त्रीं इये । अंतरंगचि अधिकारिये ॥
परीलोक वाक्चातुर्यें । होईरु सुखिया ॥
(ज्ञाने० १८ । १७४९)

अर्थात् अध्यात्मशास्त्रके अभ्यासमें अन्तरङ्गी अधिकारी होना चाहिये । दूसरे लोग वाक्चातुरी दिखलाकर ही सुखी होना चाहते हैं ।

इसीलिये ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

'मी कोण हा करावा विचार । म्हणे ज्ञानेश्वर निवृत्तीचा ॥'

अर्थात् 'मैं कौन हूँ—इसका विचार करो । ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि जागतिक प्रपञ्चसे निवृत्तिका यही मार्ग है ।' परंतु 'मैं कौन हूँ'—इसको जाननेवाले संसारमें कितने होंगे ? ज्ञानरहित कोई आदमी नहीं है, सब अपनेको ज्ञानी समझते हैं; परंतु 'स्व' का ज्ञान यथार्थरूपमें विरले ही प्राप्त करते हैं । व्यावहारिक ज्ञानके विषयमें ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

हीं आधवीची ज्ञानें । येणें केली स्वप्नें ।
जैसा वातोर्मि गगनें । गिळिजे अंती ॥
(ज्ञानेश्वरी १४)

अर्थात्—यह अधोगतिको पहुँचानेवाला ज्ञान, जिसने उस जगत्‌रूपी स्वप्नकी सृष्टि की है, यथार्थ ज्ञान होनेपर उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जैसे आकाशमें उठनेवाली वायुकी तरङ्गें आकाशमें ही अन्तमें विलीन हो जाती हैं ।

इस प्रकार यहाँ व्यावहारिक ज्ञानका निषेध किया गया है । लोगोंमें जो ज्ञान है, वह व्यवहारमें उपयोगी होते हुए भी कल्याणकारी नहीं है; क्योंकि यह ज्ञान दुःखका कारण बनता है । दुःखातिशयका दूसरा नाम अधोगति है । तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान हुए बिना जीवका कल्याण नहीं हो सकता । आत्मज्ञानका अधिकार केवल मनुष्यको है, अन्य जीवोंको आत्मज्ञान होना शक्य नहीं है । यह आत्मज्ञान-शब्द-प्रमाणका विषय है ।

शब्द दो प्रकारके होते हैं—लौकिक और वैदिक । वैदिक शब्दोंके भी दो प्रकार हैं—(१) जिन वैदिक शब्दोंके द्वारा लौकिक पदार्थका ज्ञान होता है, जैसे, वज्रहस्त पुरंदर । और (२) महावाक्य है, जैसे—'अहं ब्रह्मास्मि ।' इस महावाक्यसे यह ज्ञान होता है कि आत्मा ब्रह्मरूप है । यही ज्ञान जीवकी मुक्तिका कारण होता है, इसी ज्ञानको प्राप्त करना परम पुरुषार्थ है ।

हमारे पास ज्ञानके साधन मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ हैं; परंतु इनके द्वारा आत्मज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता । श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

मनाची नखी न रुगे । जेथ बुद्धिची दृष्टी न रिघे ।
ते इन्द्रिया कीर जोगे । काय होंवे ॥ (ज्ञानेश्वरी)

जहाँ मनकी गति नहीं है, जो बुद्धिमें नहीं आता, उसकी प्राप्ति इन्द्रियरूपी पक्षीके योगसे क्या हो सकती है ? सारांश यह है कि जो इन्द्रियादिके अगोचर है, उसका ज्ञान शाब्दी प्रमाके द्वारा ही हो सकता है ।

प्रमाणके द्वारा उत्पन्न ज्ञानको प्रमा कहते हैं । वह प्रमाण छः प्रकारका होता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द, (४) उपमान, (५) अर्थापत्ति और (६) अनुपलब्धि । इनमें केवल 'शब्द-प्रमाण' के द्वारा ही आत्मज्ञान होता है और इसका अधिकारी केवल नरदेहधारी जीव है । पर खेदकी बात यह है कि आत्मज्ञानको भूलकर मनुष्य धनवान् बननेके चक्करमें दिन-रात लगा हुआ है । परंतु भगवत्कृपासे मनुष्य चाहे कितना ही धन क्यों न अर्जन करे, उससे उसकी तृप्ति नहीं होती । श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—

'तुका म्हणे तुम्ही श्रीमन्त नावाचे । परि ते भाग्याचे हरिभक्त ॥'

अर्थात्—संत तुकाराम कहते हैं कि तुम नामके श्रीमंत हो । यथार्थ श्रीमंत तो हरिभक्त होते हैं और वे विरले ही होते हैं ।

देह आत्मा नहीं है, पर हम इस देहको ही आत्मा समझते हैं । यही नहीं,—जो अपना नहीं है, उसे अपना माने बैठे हैं—जैसे मेरा धन, मेरा धर, मेरा परिवार आदि । यह देखकर संत तुकाराम कहते हैं—

'देह हे काळाचे, धन कुबेराचे । तेथें मनुष्याचें काय आहे ॥'

देह तो कालका है और धन कुबेरका है, इनमें मनुष्यका क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं । आगे श्रीतुकारामजी कहते हैं—

'देह जाईल जाईल यासी काळोबा खाईल ।
कारे नुभगसी दगडा, कैंचे हतीं घोडवाडा ॥
लोड बालिस्ते संपत्ती जरा आलिया फजीती ।
शरीर संबंधाचे नातें मोरउपा उडविती शेतांं ॥
अजूल तरी होई जागा तुका म्हणे पुढें दगा ।'

सारांश यह है कि 'देह तो नष्ट होनेवाला ही है, इसे एक दिन काल खा जायगा; इस मृगमरीचिकामें कुछ हाथ नहीं लगना है। धन-दौलत सब फजीहत है, इस शरीरके सम्बन्धसे इनका नाता है; ये सब अनित्य हैं। तुकारामजी कहते हैं कि यदि अभी तू नहीं चेतता तो आगे चलकर धोखा खायगा।'

इस प्रकार संत तुकाराम साधु-संत आदि सब जनोंको सचेत कर रहे हैं। 'मैं' और 'मेरा'का जो ज्ञान है, वह अज्ञान है—भ्रम है। भ्रमसे आयु व्यतीत करना खतरनाक है। अतएव श्रीगुरुके मुखसे महावाक्य श्रवण करके मनन और निदिध्यासनके द्वारा अपने स्वरूपका यथार्थ अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करे। इसीसे जन्म-मृत्युकी परम्परा, जो अनन्त जन्मोंसे हमारा पीछा कर रही है, छूट जायगी। इस जन्म-मृत्युरूपी परम्परामें रहनेका नाम अनर्थ है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यजी अपने अध्यासभाष्यमें कहते हैं—

'अस्या अनर्थहेतोः'—

वस्तुतः आत्मामें जो अनात्माका अध्यास हो रहा है, यही सारे अनर्थोंका मूल है।

आत्मज्ञानका अभाव ही इस अनर्थका कारण है, आत्मज्ञानसे ही इसकी निवृत्ति हो सकती है, और आत्मज्ञान शुद्ध अन्तःकरणमें उदय होता है। अन्तःकरणकी शुद्धि निष्काम उपासनासे होती है। श्रीएकनाथजी महाराज कहते हैं—

नित्य नैमित्तिक कर्में जीं करावीं। तेह्वां ते पावावी चित्त शुद्धी॥

जो नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें लगे रहते हैं, उनको ही चित्तकी शुद्धि प्राप्त होती है।

चित्तके तीन प्रकारके दोष हैं—(१) आत्मस्वरूपका अज्ञानरूपी आवरण, (२) विक्षेप और (३) मल। नाना प्रकारके विकार जो चित्तमें उठते हैं, वे ही मल कहलाते हैं और एकाग्रताके अभावको विक्षेप कहते हैं। इन दोनोंके निवृत्त हो जानेके बाद केवल आत्मस्वरूपका अज्ञानरूपी आवरण रह जाता है और उसकी निवृत्ति वेदान्तके श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा होती है। आवरण-निवृत्तिका अर्थ है—अज्ञानकी निवृत्ति। इसके निवृत्त होते ही निःसंदेह आत्मज्ञान हो जाता है। श्रीएकनाथ महाराज एक अभंगमें कहते हैं—

राहिले से ज्या स्वरूपावरण। ज्ञाने निवारण होय त्याचे।

अर्थात् स्वरूपके आवरणका निवारण आत्मज्ञानके द्वारा होता है। आत्मज्ञान चिन्मात्र है, वह ज्ञानका विषय नहीं है। घट-पटादि पदार्थ जड हैं, अतएव वे ज्ञानका विषय हो सकते हैं। आत्मा तो स्वयं ज्ञानरूप है, वह किसके ज्ञानका विषय बनेगा? श्रीज्ञानेश्वरजी महाराज ज्ञानेश्वरीमें लिखते हैं—

ज्ञातृज्ञेयाविहीन। नुसंधचि जे ज्ञान।
सुखा भरले गगन। गाळीव जे॥

अर्थात् आत्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। उसका कभी बाध नहीं होता, अतएव सद्रूप है; अपनी सिद्धिमें अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं करता, अतएव वह चिद्रूप है; और सर्वव्यापक आकाशके समान आनन्दसे ओतप्रोत है, अतएव वह आनन्दस्वरूप है।

न्यायशास्त्रमें ज्ञानको आत्माका गुण माना है, यानी सिद्धान्ततः मान लिया है कि चिद् आत्माका स्वरूप है। इसी प्रकार योग और सांख्यशास्त्र भी आत्माको चित् (चेतन) स्वरूप मानते हैं। इस अंशमें सबका एक मत है। इसी कारण ज्ञानेश्वर महाराजने अमृतानुभवमें लिखा है कि इस तत्त्वको न समझकर जीव किसी अनात्म-वस्तुको अपना स्वरूप मानकर व्यावहारिक ज्ञानसे अपनेको ज्ञानी मानकर धोखा खाता है। इस विषयमें वे ज्ञानेश्वरीमें कहते हैं—

'आपणचि ज्ञानस्वरूप आहे। परि ते गेले हे दुःख न सोहे।
आणि विषय ज्ञाने होये। गगना येवढा॥'

अर्थात् हम ज्ञानस्वरूप हैं, बहुत ही दुःखकी बात है कि हम इसको भूल गये और आकाशके समान व्यापक विषयज्ञानमें फँस गये। इस समझमें हम किस तरह फँस गये हैं?

रावो जैसा स्वप्नी। रङ्क पणे निघे धानी।
तो दो दाणा मानी। इन्द्रु ना मी॥

जैसे राजा स्वप्नमें रंक हो जाय और दो दानेके लिये मारा-मारा फिरे—वही हालत जीवकी हो गयी है। अर्थात् आत्माके यथार्थ ज्ञानको भूलकर जड पदार्थके ज्ञानमें आत्मज्ञान मानकर व्यर्थ ही अमोल नरजीवनको बर्बाद कर रहा है। इस मानव-शरीरसे उसको सच्चिदानन्द-पद प्राप्त

करनेका अधिकार है, परंतु भूल-भुलैयामें पड़कर इस महालाभसे वह वञ्चित हो रहा है। श्रीएकनाथजी महाराज कहते हैं—

नरदेहा चे नि ज्ञाने। सच्चिदानन्द पदवी घेंग।
येवढा अधिकार नारायणे। कृपावलोकने दीधला॥

अर्थात् मनुष्यके ऊपर कृपा करके नारायणने उसको यह अधिकार दे दिया है कि ज्ञानके द्वारा वह इसी नरदेहसे सच्चिदानन्द-पदको प्राप्त करे। अतएव सत्संगतिके द्वारा साधन-पथमें अग्रसर होकर आत्मज्ञान प्राप्त करके जीव मुक्त हो जाय।

अतएव सबसे हमारी विनीत प्रार्थना है कि अपने शेष जीवनको साधनामें लगाकर परम पुरुषार्थ आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें अग्रसर हों। श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—

बखेझले आजवरी। नाहीं पडलो मृत्युचे आहारी।
वाचुनी आलो येथवरी। उरले ते हरि तुम्हा समर्पण॥

'मैं आजतक धोखेमें था, संतोषका विषय है कि मृत्युका आहार नहीं बना, अबतक बचा रहा। हे हरि! अब मैं यह जीवन तुमको समर्पण करता हूँ।'

जो ऐसा संकल्प कर ले, वह कृतार्थ हो जाय।

(अनुवादक और प्रेषक—श्रीबाबासाहब बड़ेवार बार्शी)

महर्षि कृष्णद्वैपायन

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा)

[गताङ्क, पृष्ठ१०४१ से आगे]

हम पहले शास्त्रग्रन्थोंसे और पश्चात् प्रधान और प्रसिद्ध वेदान्तभाष्यकर्त्ता आचार्यों और महान् पण्डितोंद्वारा की गयी वेदान्त-सूत्रोंकी व्याख्या आदिसे प्रमाणित करेंगे कि भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ही ब्रह्मसूत्र-रचयिता हैं, इस विषयमें लेशमात्र भी संदेहका अवकाश न कभी था और न हो-सकता है।

(१) शास्त्र

(क) श्रीमद्भगवद्गीता (महाभारत)

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः। (१३।४)

—गीताके इस श्लोकमें ब्रह्मसूत्रका उल्लेख प्राप्त होता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मसूत्रमें भी गीताका उल्लेख अनेक बार आया है।

'अपि च स्मर्यते' (ब्र० सू० २।३।४५) सूत्रमें, गीता (४।७) 'योगिनः प्रति च स्मर्यते' (४।२।२३) सूत्रमें, गीता (८।२३) का उल्लेख हुआ है। यहाँ सूत्रकारने गीताको 'स्मृति' कहा है। यहाँ यह सहज ही समझा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्रकार और गीता (महाभारत) के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं; यदि नहीं, तो दोनों कम-से-कम सम-सामयिक हैं।

(ख) स्कन्दपुराण—

कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये।
चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा॥

× × ×

यथा व्यासत्वमेकस्य कृष्णस्यान्यविशेषणात्।
सविशेषाणि सूत्राणि ह्यपराणि विदो विदुः॥
एवंविधानि सूत्राणि कृत्वा व्यासो महायशाः।
ज्ञानं संस्थाप्य भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तमः॥

श्रीमध्वाचार्यने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्यमें स्कन्दपुराणसे उपर्युक्त श्लोकोंको उद्धृत किया है। बलदेव विद्याभूषणने भी अपने भाष्यमें इन श्लोकोंका उल्लेख किया है।

कृष्णद्वैपायन व्यासजी ब्रह्मसूत्रके प्रणेता थे, यह इन श्लोकोंसे पूर्णतः प्रमाणित होता है।

सम्भव है, कोई यह तर्क उपस्थित करे कि स्कन्दपुराण अर्वाचीन ग्रन्थ है; क्योंकि विलसन (Wilson) तथा बहुतेरे पाश्चात्यमतावलम्बी ऐसा ही कहते हैं। डा० हाजराके मतसे अष्टमसे चतुर्दश शताब्दीतक इसका रचनाकाल है। परंतु स्कन्दपुराण अति प्राचीन है; क्योंकि स्वयं शंकराचार्य

और उनके परम गुरु गौडपादने इससे प्रमाण उद्धृत किये हैं।*

(ग) पराशर-उपपुराण—

जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन।
श्रुत्या वेदार्थविज्ञानं श्रुतिपारं गतौ हि तौ॥

यहाँ दोनों मीमांसा-दर्शनोंके सामञ्जस्यकी बात कही गयी है। दोनों ही शास्त्रोंमें वेदार्थविज्ञान संनिविष्ट है; इनमें कोई विरोध नहीं है। 'वैयास' शब्दसे व्यासप्रणीत ब्रह्मसूत्र या उत्तरमीमांसा सुस्पष्ट है।

स्वयं शंकराचार्यने कहा है कि जैमिनिका कर्मकाण्ड और व्यासका ज्ञानकाण्ड—ये दोनों मिलकर मीमांसादर्शन हैं।

(घ) पाणिनिकी अष्टाध्यायी (वेदाङ्ग)—

हम पहले ही दिखला चुके हैं कि पाणिनिके मतसे पाराशर्य व्यासजीने भिक्षु (या ब्रह्म-) सूत्र प्रणयन किया था।

(२) वेदान्त-भाष्यादि।

अब हम ब्रह्मसूत्र ग्रन्थके विभिन्न साम्प्रदायिक भाष्यादिसे दिखलाते हैं कि वह व्यास-रचित है; इसमें कोई संदेह नहीं रह सकता।

* गौडपादने अपने 'चिदानन्दकेलिविलास' नामक श्रीश्रीचण्डी-भाष्यमें स्कन्दपुराणका नाम देकर श्लोक उद्धृत किया है (८०९, ९६९, १०२ ख पृ०)। इसके बहुत दिन बाद शंकराचार्यने अपने विष्णु-सहस्रनाम-भाष्य (१०) में—

सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम्।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनो हरिः॥
(स्क० पु० ५। ३। १५७। ७)

—यह श्लोक स्कन्दपुराणसे उद्धृत किया है। उनकी अन्य रचनाओंमें अनेक स्थानोंमें स्कन्दपुराणकी विषय-वस्तुका संकेत पाया जाता है। प्रबोधसुधाकर २३० ख (स्कन्दपुराण, विष्णु० पुरुषोत्तम० २। २। ११) जगन्नाथाष्टक (स्कन्दपुराण, विष्णु० पुरुषोत्तम०) दशश्लोकी स्तुति (स्तुति स्कन्दपुराण०, काशी०, उत्तर०, ९५) इत्यादि द्रष्टव्य हैं। अतएव स्कन्दपुराण शंकराचार्यके समयमें तो था ही। गौडपादके बहुत पूर्वसे यह सर्वजनमान्य महान् शास्त्रग्रन्थके रूपमें प्राप्त होता था।

(ङ) श्रीकण्ठभाष्य।

बहुतोंका मत है कि श्रीकण्ठ शंकराचार्यसे भी पूर्व हुए हैं। अपनी लिखी शैवव्याख्यामें उन्होंने ब्रह्मसूत्रको 'व्यास-सूत्र' नामसे अभिहित किया है।

श्रीमतां व्याससूत्राणां श्रीकण्ठया प्रकाशते।
(श्रीकण्ठभाष्य (उपोद्घात)

(च) श्रीनिवासाचार्य।

ये वैष्णवसम्प्रदायके द्वैताद्वैत या भेदाभेदवादके आचार्य श्रीमन्निम्बार्कके साक्षात् शिष्य थे। इन्होंने निम्बार्काचार्य-प्रणीत ब्रह्मसूत्रभाष्य 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' के ऊपर 'वेदान्त-कौस्तुभभाष्य' नामक टीका लिखी है। इसमें वे पहले ही कहते हैं—

भगवान् पुरुषोत्तमः श्रीवासुदेवः पाराशर्यात्मना नाना-कुतर्कविमोहितान् जीवान् वीक्ष्य तेषु स्वज्ञानभक्ती द्रढयितुं निःसंशयतया परब्रह्मप्रतिपत्तये शारीरकमीमांसाख्यं वेदान्त-शास्त्रं सूत्रयामास।

(वेदान्तकौस्तुभभाष्य १। १)

'पुरुषोत्तम वासुदेवने जीवोंको कुतर्क-विमोहित देखकर भगवद्विषयक ज्ञान और भक्तिको दृढ़भावसे स्थापन तथा निस्संदेहरूपमें परब्रह्मतत्त्वको प्रमाणित करनेके निमित्त पाराशर्य (व्यास) रूपमें शारीरकमीमांसा नामक वेदान्तसूत्रकी रचना की थी।

निम्बार्क-सम्प्रदायके इन दोनों वेदान्तभाष्योंमेंसे किसीमें भी मायावादका उल्लेख नहीं है। इस कारण तथा प्रचलित मतके अनुसार ये दोनों ग्रन्थ शंकराचार्यके पूर्ववर्ती ज्ञात होते हैं।

(छ) श्रीशंकराचार्य।

(१) 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' ग्रन्थमें शंकर भगवत्पादने 'उत्तरमीमांसा' को 'व्याससूत्र' के नामसे स्पष्ट उल्लेख किया है।

भवत्युत्तरमीमांसा त्वष्टाध्यायी द्विधा च सा।
देवताज्ञानकाण्डाख्यां व्याससूत्रं द्वयोः समम्॥
(उपोद्घात २०)

(२) अक्षपादः कणादश्च कपिलो जैमिनिस्तथा।
व्यासः पतञ्जलिश्चैते वैदिकाः सूत्रकारकाः॥
(उपोद्घात २३)

इस ग्रन्थमें षड्दर्शनके आचार्योंके नामोंमें श्रीशंकराचार्यने बादरायणके बदले व्यासका नाम उल्लेख किया है, इससे प्रतीत होता है कि उनके मतसे व्यास और बादरायण एक ही व्यक्ति हैं और अभिन्न हैं।

(३) विष्णुसहस्रनामभाष्यमें श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

सर्वान् कामान् सदा ददातीति सर्वकामदः।

'फलमत उपपत्तेः'—(ब्रह्मसूत्र ३।२।३४) इति व्यासेनाभिहितत्वात्।

(विष्णुस० ना० भाष्य १०४, २५७ पृ० (गीता-प्रेससे)। यहाँ ब्रह्मसूत्रसे सूत्र उद्धृत करके वे स्पष्टरूपसे कहते हैं कि यह व्यासका वचन है।

उपर्युक्त उदाहरणोंसे निस्संदेह प्रमाणित होता है कि श्रीशंकराचार्यके मतसे व्यासने ही बादरायण नामसे वेदान्तसूत्रकी रचना की थी।

श्रीशंकराचार्यके ब्रह्मसूत्रभाष्यमें दो स्थानोंमें निम्नलिखित वाक्य पाये जाते हैं—

(४) 'इति श्रीवैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां'—इत्यादि। (ब्र० सू० ३।१।६।२७, ९३८ पृ० वेंकटेश्वर प्रेस)

(५) इति श्रीमद्व्यासमहर्षिप्रणीते शारीरकदर्शने'—इत्यादि। ब्र० सू० ४।१।१४।१९, १२८४ पृ० (वें०)

अतएव संसारके श्रेष्ठ अद्वैतवादी वेदान्ती भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य पूर्णतया विश्वास करते थे कि व्यास ही बादरायण हैं; और वे ही शारीरकमीमांसादर्शनके प्रवर्त्तक आचार्य हैं।

(ज) वाचस्पतिमिश्र (आ० नवम शताब्दी ई०)

पण्डितसम्राट् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पतिमिश्र अपनी सुप्रसिद्ध 'भामती' टीकाकी भूमिकामें कहते हैं—

ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय वेधसे।
ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवतो हरेः॥

अर्थात् वेदव्यास ब्रह्मसूत्रकर्त्ता थे तथा भगवान् श्रीहरिकी ज्ञानशक्तिके अवतार थे।

(झ) आनन्दगिरि।

शांकरभाष्यकी टीकाके मङ्गलाचरणमें लिखते हैं—

श्रीमद्व्यासपयोनिधेर्निधिरसौ।

(ञ) गोविन्दानन्द।

'रत्नप्रभा' भाष्यके मङ्गलाचरणमें इन्होंने भी इसी भावमें कहा है—

श्रीशंकरं भाष्यकृतं प्रणम्य व्यासं हरिं सूत्रकृतं च वच्मि।

(ट) श्रीमद् रामानुजाचार्य (१०१७—११३७)

विशिष्टाद्वैतवादके आचार्यपाद अपने श्रीभाष्यके मङ्गलाचरणमें लिखते हैं—

पाराशर्यवचःसुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योद्धृताम्।

अर्थात् उपनिषद्रूप क्षीरोदसमुद्रका मन्थन करके व्यासजीने ब्रह्मसूत्र या शारीरकमीमांसादर्शनरूप वाक्यसुधा प्रकट की है।

(ठ) श्रीमन्मध्वाचार्य (११९७-१२७६)

शुद्धद्वैतवादके आचार्यपादने महर्षि वेदव्यासको नारायणका अवतार कहकर स्तवन किया है। उन्होंने वेद-विभाजनके पश्चात् उसका अर्थनिर्णय करनेके लिये ब्रह्मसूत्रका प्रणयन किया था। अपने प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्रभाष्य (पूर्णप्रज्ञ-दर्शन) में वे लिखते हैं—

भगवान्नारायणो व्यासरूपेणावततार, वेदमुत्सन्नं-यज्ञनयंश्चतुर्धा व्यभजत्। चतुर्विंशतिधा एकशतधा सहस्रधा द्वादशधा च। एवं तदर्थनिर्णयाय ब्रह्मसूत्राणि चकार।

इसके बाद आचार्यपादने स्कन्दपुराणका उपर्युक्त वाक्य उद्धरण किया है (ऊपर 'ख' देखिये)। उपसंहारमें लिखा है—'इति श्रीकृष्णद्वैपायनाभिधानमहर्षिवेदव्यास-प्रणीतब्रह्मसूत्रं समाप्तम्।'

(ड) सायणाचार्य (चतुर्दश ई० सदी)—

ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिकामें सायणने एक जगह लिखा है—

वैयासिकस्य तृतीयसूत्रस्य—यहाँ निस्संदेह ब्रह्मसूत्रको व्यासप्रणीत कहा गया है।

(ढ) कुल्लूकभट्ट (त्रयोदश शताब्दी)

अपनी प्रसिद्ध मन्वर्थमुक्तावलीमें कुल्लूकभट्टने ब्रह्मसूत्रसे एक सूत्र उद्धृत करके टीका की है—

अतएव शारीरकसूत्रकृता व्यासेन सिद्धान्तितमीक्षतेर्ना-शब्दम् इति ।

अतएव स्पष्ट है कि उनके मतसे व्यासजी ब्रह्मसूत्र-कर्त्ता हैं ।

(ण) विशिष्टाद्वैतवादके आचार्य श्रीमद्रामानन्द सरस्वतीने (१३००—१४११) अपने वेदान्तदर्शनकी वृत्ति 'ब्रह्मामृतवर्षिणी'को उपसंहारमें निम्नलिखित श्लोकके द्वारा भगवच्चरणोंमें उनके प्रीत्यर्थ समर्पण किया है—

विदुषां कण्ठभूषेयं कृता वृत्तिर्मया प्रभो ।
व्यासवाङ्मणिसंदृब्धा प्रीतये तेऽस्तु सर्वदा ॥

इस श्लोकसे सुस्पष्ट प्रतिभात होता है कि आचार्य-पादको पूर्णतः विश्वास था कि वेदव्यास ही ब्रह्मसूत्रके प्रणेता हैं ।

(त) महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य देव (षोडश शताब्दी) महाप्रभु बङ्गदेशके देदीप्यमान प्रकाश थे। वे केवल श्रेष्ठ वैष्णव और सिद्ध अवतारी महापुरुष ही नहीं थे, वरं उनमें पाण्डित्य भी असाधारण था। दिग्विजयी पण्डित भी उनसे परास्त हो गये थे। वे भी जानते थे कि वेदान्तसूत्र व्यासरचित हैं । उनके मतसे श्रीमद्भागवत भी कृष्णद्वैपायन-की रचना है, यह ब्रह्मसूत्रका भाष्य और विस्तार है। कृष्णदास कविराज कृत 'श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत' ग्रन्थसे उद्धृत निम्नलिखित श्लोकसे यह प्रमाणित होता है—

श्रीकृष्ण चैतन्य हय साक्षात् नारायण ।
व्याससूत्रेर अर्थ करे अति मनोरम ॥
दुयेर छय मत व्यास कैल आवर्त्तन ।
सेइ सब सूत्र लैया वेदान्त वर्णन ॥

× × ×

प्रभु कहे आमि जीव अति तुच्छ ज्ञान ।
व्यास सूत्रेर गम्भीरार्थं व्यास भगवान ॥
ताँर सूत्रेर अर्थ कोन जीव नाहि जाने ।
अतएव आपन सूत्रेर करियाछे व्याख्याने ॥
अतएव भागवत सूत्रेर अर्थरूप ।
निजकृत सूत्रेर निज भाष्यरूप ॥
(चै० च० मध्य २५)

और भी—

प्रभु कहे वेदान्त सूत्र ईश्वर वचन ।
व्यास रूपे कहिल जाहा श्रीनारायण ॥

× × ×

व्यासेर सूत्रेते कहे परिणाम वाद ।
व्यास भ्रान्त बलि ताँहा उठाइल विवाद ॥
परिणाम वादे ईश्वर हयेन विकारी ।
एत बलि विवर्त्त वाद स्थापन जे करि ॥
(चै० च० आदि)

आगे कहते हैं—

जीवेर निस्तार लागि सूत्र कैल व्यास ।
मायावादी भाष्य सुनिले हय सर्वनाश ॥
परिणाम वाद व्यास सूत्रेर सम्मत ।
अचिन्त्य शक्ति ईश्वर जगद्रूपे परिणत ॥
मणि जैछे अविकृत प्रसवे हेमभार ।
जगद्रूप हय ईश्वर तबू अधिकार ॥
'व्यास भ्रान्त' बलि सेई सूत्रे दोष दिया ।
विवर्त्तवाद स्थापियाछे कल्पना करिया ॥
(चै० च० मध्य ६)

महाप्रभुने शंकरके मायावाद या विवर्त्तवादको निरस्त करके अचिन्त्य भेदाभेदवादकी स्थापना की थी ।

(थ) श्रीमद् वल्लभाचार्य (१४७८–१५३० ई०)

पुष्टिमार्गके आचार्यपाद श्रीमद् वल्लभाचार्य भी प्रकाण्ड पण्डित थे । उनके विशुद्धाद्वैतवाद-पक्षमें अणुभाष्यमें लिखा है—

तथा च निर्णये येन केनापि वेद् वक्तव्ये हरिः स्वयं व्यासो विचारं चिकीर्षुस्तत्कर्त्तव्यतां बोधयति । ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येति व्यासोक्तत्वादर्थ्य कर्त्तव्यता ।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाप्रभुके समसामयिक थे । दोनोंके परस्पर साक्षात्कार और वार्तालाप करनेकी बात 'चैतन्य-चरितामृत' तथा वल्लभसम्प्रदायके ग्रन्थोंमें पायी जाती है। उनका भी विश्वास था कि व्यासजी स्वयं नारायण थे और ब्रह्मसूत्रके प्रणेता थे ।

(द) बलदेवविद्याभूषण—

इन्होंने चैतन्य महाप्रभुके अचिन्त्यभेदाभेदवाद सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मसूत्रके 'गोविन्दभाष्य' की रचना की है। स्वयं गोविन्दके स्वप्नादेशसे यह भाष्य लिखा गया है।

सूत्रांशुभिस्तमांसि व्युदस्य वस्तूनि यः परीक्षयते।
स जयति सात्यवतेयो हरिरनुवृत्तो नतप्रेष्ठः॥

'द्वापरे वेदेषु समुत्पन्नेषु संकीर्णप्रज्ञैर्ब्रह्मादिभिरभ्यर्थितो भगवान् पुरुषोत्तमः कृष्णद्वैपायनो मन्त्रान् उद्धृत्य विवभाज। तदर्थं निर्णेतुं चतुर्लक्षणां ब्रह्ममीमांसामाविश्चकार इत्यस्ति कथा स्कान्दी।'

देखा जाता है कि— गोविन्दभाष्यमें भी ऊपर उद्धृत (ख) स्कन्दपुराणके श्लोकका उल्लेख करके कहते हैं कि भगवान् पुरुषोत्तम स्वयं व्यासरूपमें अवतीर्ण होकर वेदोंका उद्धार करके चार भागों और अनेक शाखाओंमें विभाजन करते हैं। तत्पश्चात् वेदका सार अर्थ निर्णय करनेके लिये कृष्णद्वैपायनने ब्रह्मसूत्रदर्शनका आविष्कार किया है।

(ध) अप्पय्य दीक्षित। (१५२०–१५९२)

ये दक्षिणके शिवभक्त अद्वैतवादी महान् पण्डित थे। अपने 'वेदान्तकल्पतरु' नामक सुप्रसिद्ध भाष्यमें इन्होंने व्यासजीको ब्रह्मसूत्रकर्त्ता आदिगुरु कहकर प्रणाम किया है।

यन्न्यायसूत्रग्रथितात्मबोध-
सौरभ्यगर्भश्रुतिपद्ममाला।
प्रसाधयत्यद्वयमात्मतत्त्वं
तं व्यासमाद्यं गुरुमानतोऽस्मि॥
(मङ्गलाचरण ६)

'भारत-सार-संग्रह' पुस्तिकामें वे कहते हैं—

'श्रीबादरायणमुनिः स्वयमेव विष्णुः।'

व्यास विष्णुके अवतार हैं, अतएव बादरायण ही व्यास हैं।

उपसंहार—

शास्त्रादि मूल ग्रन्थोंसे तथा प्राचीनतम कालसे लेकर सप्तदश शताब्दीतक रचित ब्रह्मसूत्रके भाष्य आदिकी आलोचनाके द्वारा निस्संदेह यह प्रमाणित हो गया कि वैदिक धर्मके स्तम्भस्वरूप और ज्ञानकी दृष्टिसे महामानवरूप, विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्य और पण्डितोंने एक स्वरसे इस बातकी घोषणा की है कि महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासके रूपमें श्रीहरिने अवतीर्ण होकर अनन्त वेदराशिका विभाग करके उसके सार अर्थके रूपमें ब्रह्मसूत्र या शारीरकमीमांसा शास्त्रका प्रणयन किया था। इसमें संदेह नहीं कि वे ही बादरायण नामसे संसारके इस सर्वश्रेष्ठ दर्शन-ग्रन्थके रचयिता हैं।

आधुनिक तथाकथित गवेषणाके द्वारा इस महासत्यके अपलापकी कुचेष्टा निरर्थक है, इसको व्यर्थ वातुलताके सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। विशाल हिमालयके तुङ्गतम शृङ्गके धवल सौन्दर्यको हम बहुत दूरसे तथा अनेक निम्नस्तरसे केवल सानन्द विस्मयाभिभूत होकर देख सकते हैं, पर वहाँ जानेमें समर्थ नहीं हो सकते। इसी प्रकार व्यासजीके विराट् व्यक्तित्वके प्रभावसे मुग्ध होकर केवल हम कह सकते हैं —'हे करुणापारावार महर्षे! हम क्षुद्र हैं, आपने कृपा करके हमको संसारका बृहत्तम ग्रन्थ महाभारत, उसकी मध्यमणि श्रीमद्भगवद्गीता, अष्टादश महापुराण, उनके मध्यमणिसदृश अपूर्व ज्ञान और भक्तिका प्रस्रवण श्रीमद्भागवत तथा वेदान्तके सारे ज्ञानको निचोड़ करके संसारका सर्वश्रेष्ठ, साथ ही लघु-कलेवर दर्शनग्रन्थ ब्रह्मसूत्र प्रदान किया है। हम मूर्ख, ज्ञानहीन और अयोग्य हैं। अवाक्, विस्मित और भक्तिभावसे विनम्र होकर आपको केवल प्रणाम कर सकते हैं और इतना ही कह सकते हैं—

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः॥

मनन-माला

(लेखक—ब्र० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्क पृष्ठ १०३२ से आगे]

८४—घर छोड़कर जंगलमें जानेसे मुक्ति नहीं होती। सफेद छोड़कर भगवा पहननेसे मुक्ति नहीं होती। यह त्याग त्याग नहीं है। अहंकारका त्याग ही सच्चा त्याग है। हम देह नहीं हैं, तथापि हम अपनेको देह मानते हैं—इस मिथ्या अहंकारका त्याग करना आवश्यक है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन कर्म करते हैं, तो भी हम मानते हैं कि हम कर्म करते हैं। यह सर्वथा मिथ्या है—इस मिथ्या अहंकारका त्याग आवश्यक है। यह त्याग अभ्याससे होगा। मनके इस मिथ्या भ्रमको विचारके विना कोई दूर नहीं कर सकता। परमात्माकी निष्काम भक्तिसे सत् विचार पैदा होता है और उस विचारके बढ़नेपर सारे कल्याण सिद्ध होते हैं; इसलिये सत् विचारका सेवन करे। इसके लिये सत्सङ्गकी विशेष आवश्यकता है। सत्सङ्ग जीवित सत्पुरुषसे हो सकता है तथा सद्ग्रन्थोंके पठन-विचार और चर्चासे हो सकता है। इसकी नित्य साधना करे।

८५—यह सारा जगत् आत्मा—परमात्मामें भासित हो रहा है, यह मिथ्या है। मैं आत्मा हूँ—यह निर्णय सत्य है तथा नित्य मनन करने योग्य है। आत्मा-परमात्मामें भेद नहीं है। दोनों एक ही वस्तु हैं। चेतन आत्माके टुकड़े नहीं हो सकते। इसे करे कौन? आत्मा अविकारी और अविनाशी है, अतएव वह व्यापक है। वह आत्मा मैं हूँ। केवल लिङ्गशरीरकी उपाधिके कारण आत्मा एक होनेपर भी अनेक रूपमें दीखता है, वासनाके नाशसे उस लिङ्गशरीरका नाश होता है। इसके सिवा करोड़ों उपाय करनेसे भी इसका नाश नहीं होता। स्वस्वरूपके ज्ञानके विना, आत्म-ज्ञान हुए विना वासनाका नाश नहीं होता। स्व-स्वरूपका ज्ञान निष्काम भक्ति और सत्सङ्गके विना नहीं होता। इसलिये निष्काम भक्ति और सत्सङ्गका सदा सेवन करे।

८६—परमार्थके इस मार्गमें प्रविष्ट साधक एक बार प्रवेश करनेपर फिर निकल नहीं सकता। कदाचित् कुछ देरके लिये गड़बड़में पड़ जाय, परंतु थोड़े ही समयके बाद फिर रास्ता पकड़ लेता है। अन्तरिक्षमें अदृश्य रूपमें देवता और सिद्ध पुरुष विचरण करते हैं और वे जगत्में इस प्रकारके साधककी सदा सहायता करनेकी प्रतीक्षामें रहते हैं। वे किसी-न-किसी रूपमें आकर किसी प्रकारसे प्रेरणा प्रदान करके साधकको उसके भूले हुए मार्गपर आरूढ़ करा देते हैं, अतएव धैर्य और शान्ति रखकर साधकको साधनामें लगे रहना चाहिये। परमात्माके स्मरणमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह सब विघ्नोंका नाश करके आत्माको परमात्मामें जोड़ देता है। साधन-अवस्थामें आत्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं; परंतु जैसे-जैसे साधन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अन्तर घटता जाता है और अन्तमें दोनों एक हो जाते हैं—यह निश्चित है।

८७—क्रिया करनेवाले तो स्थूलशरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही न हैं ? ये सब आत्माके सामीप्यसे शक्ति पाकर क्रिया करते हैं। हम शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धि नहीं हैं, बल्कि इन सबके साक्षी तथा इन सबको शक्ति देनेवाला आत्मा है। कर्ता और भोक्ता तो ये सब हैं, तथापि हम अपनेको कर्त्ता और भोक्ता मानते हैं—यह बड़ी भारी भूल है। हम साक्षी हैं, और कर्त्ता-भोक्ता तो प्रकृतिरूप शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका समुदाय है। हम असङ्ग और नित्य हैं, और ये सब विकारी, विनाशशील और मिथ्या हैं। हम असङ्ग और इन सबके साक्षी हैं, आत्मस्वरूप हैं—इसका बारंबार मनन करे।

८८—साधक श्वासमें वृत्ति लगाकर श्वासके साथ जप करे, यह अत्यन्त लाभदायक है तथा मालाके विना भी केवल मनसे जप करे, यह भी बहुत लाभदायक है। इन दोनों प्रकारसे जप करनेसे मन दूसरे विचारोंमें नहीं रमता और तुरंत शान्त हो जाता है। ये दोनों अभ्यास नित्य नियमित रूपसे करने चाहिये।

८९—जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि—ये शरीरको होते हैं। आत्माको नहीं होते। हम आत्मा हैं, शरीर नहीं हैं। शरीर हमारा नहीं है। हममें और शरीरमें कोई सम्बन्ध नहीं। इस बातका बारंबार दृष्टान्त और तर्कद्वारा मनन करे। मनन किये विना आत्मज्ञान दृढ़ नहीं होता, स्थिर नहीं रहता। इसी प्रकार हर्ष, शोक, क्रोध, भय और चिन्ता तथा मोह

और लोभ आदि जो हैं; ये चित्तमें होते हैं आत्मामें नहीं। हम चित्त नहीं हैं, बल्कि चित्तके भी द्रष्टा साक्षी आत्मा हैं—इस प्रकारका मनन बार-बार करे।

९०—शरीरकी प्रकृतिके अनुसार जो हो सके, वह स्वधर्मरूपी कर्म शान्तचित्तसे, राग-द्वेषरहित होकर और फलेच्छासे रहित होकर करे। चित्तको शान्त और निर्विकार रखकर स्वधर्मरूपी कर्मको करता जाय। विषयोंमें सुख-बुद्धि होनेसे चित्त कामनायुक्त होता है और कामनायुक्त चित्त अशान्त होता है। अशान्त चित्तमें सुखका अनुभव नहीं होता। जो कुछ करे, वह शान्तचित्तसे करे। सारे कर्मोंके कर्ता तो प्रकृतिरूपी शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं। स्थूलशरीर जड है, इन्द्रियाँ जड हैं, इन सबका प्रेरक अन्तःकरण कहलानेवाला चित्त है। अर्थात् चित्त कर्ता और भोक्ता है। तथापि हम उस चित्तका सङ्ग करके अपनेको कर्ता-भोक्ता मानकर सुख-दुःखका अनुभव करते हैं। हम चित्त नहीं हैं, चित्त अपना नहीं है। चित्तसे और अपनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार चित्तका त्याग करे और यह त्याग ही सच्चा त्याग है।

९१—साधक प्राणिमात्रको अपना स्वरूप—मित्र मानकर तदनुसार उसके साथ बर्ताव करे। चींटीसे लेकर ब्रह्मातक सारे प्राणियोंके शरीर पञ्चभूतके बने हैं और सबमें आत्मा है। जैसे हम हैं, वैसे सब हैं। अपना शरीर पञ्चमहाभूतोंका है, सबका शरीर पञ्चमहाभूतोंका है। अपने शरीरमें आत्मा है और सबके शरीरमें आत्मा है। हम शरीर नहीं हैं, बल्कि आत्मा हैं। वैसे ही वे भी शरीर नहीं हैं, बल्कि वास्तविक रूपमें आत्मा हैं। हमारा शरीर विकारी और विनाशशील होनेके कारण केवल दिखावामात्र है और मिथ्या है, वैसे ही सबके शरीर विकारी और विनाशशील होनेके कारण दिखावामात्र और मिथ्या हैं। अपने शरीरमें स्थित आत्मा सत्य और शरीर मिथ्या है। इसी प्रकार सबके शरीरमें स्थित आत्मा सत्य और शरीर मिथ्या है। इससे ज्ञात हो जाता है कि आत्मा हमारे भीतर और सब शरीरोंके भीतर नित्य और सत्य है तथा शरीरमात्र मिथ्या है। नित्य मुक्त, अविकारी और अविनाशी, अखण्ड और व्यापक आत्मा सब शरीरोंमें विभिन्न-सा भासता है, परंतु वास्तवमें एक ही है। आत्मारूपी महासागरमें तरङ्गरूपी शरीर मिथ्या भासते हैं। वास्तविक आत्मा एक और अखण्ड है और वह आत्मा सबका साक्षी एक मैं हूँ। यह परम सत्य है। इसका बारंबार चिन्तन करे। चित्तके लिये यह समझना कठिन जान पड़ेगा; परंतु यह पूर्ण सत्य है। अतएव इसमें श्रद्धा रखकर बार-बार तर्कपूर्वक इसका चिन्तन करे।

यह अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे शरीर और इन्द्रियोंसे कर्म करते रहनेपर भी मन पूर्ण शान्त रहेगा। इस प्रकार समाहित—शान्त हुए मनको शान्त रहने दे। इस प्रकार शरीरसे जो कर्म होता है, वह बन्धनकारक नहीं होता।

९२—आत्मा कभी जन्मा नहीं, उसकी मृत्यु भी नहीं है। पहले कभी जन्मा नहीं था और आगे जन्मनेवाला नहीं है। उसके प्रारब्ध कर्म नहीं हैं। कर्ममात्रका कर्त्ता तथा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवाला तो चित्त है, आत्मा नहीं। आत्मा तो सदासे है और सदा रहेगा। सर्वत्र है, निरञ्जन, निराकार, निर्विकार है। मुक्ति आत्माकी नहीं, चित्तकी होनेवाली है। आत्मा तो कभी बन्धनमें आया ही नहीं, वह तो सदा ही मुक्त है। प्रयत्न करके जो कुछ करना है, वह है चित्तको आत्मामें लय करना। चित्तसे ही यह संसार है, चित्तसे ही ये जन्म-मृत्यु तथा चित्तसे ही ये सुख-दुःख हैं। यह चित्त कैसे पैदा हुआ, यह विचार करना आवश्यक नहीं है, इसका पार पाना कठिन है। बल्कि पुरुषार्थ इसलिये करना है कि जिससे वह चित्त किसी प्रकार मरकर आत्मामें विलीन हो जाय। चित्तके मरनेका नाम मुक्ति है। चित्तके जीते रहनेका नाम संसार है। जैसे स्त्रीकी खुराक पतिके साथ विषय-भोग है और इससे वह पुष्ट होती है, इसी प्रकार चित्तकी खुराक भोग-वासना है और इसीसे वह पुष्ट होता है तथा फूलता-फलता है। भोगवासना नष्ट होनेपर चित्त दुर्बल हो जाता है और अन्तमें क्षीण होकर आत्मामें लीन हो जाता है। भोगकी इच्छाका नाश किये बिना वासनाका नाश नहीं होता तथा भोगोंमें सुख-बुद्धिका नाश हुए बिना और दुःख-बुद्धि हुए बिना भोगोंकी इच्छा शान्त नहीं होती। इस चित्तको शान्त करने और भोगोंमें सुख-बुद्धिका त्याग करनेमें विचार और सत्सङ्गके सिवा कोई जप, कोई तप या तीर्थयात्रा काम नहीं देते। इसलिये आत्म-विचार, सत्सङ्ग और हरिस्मरणका नित्य सेवन करे। एक क्षण भी स्मरण बिना न रहे। आत्माको कर्म बन्धनमें नहीं डालता; अज्ञानसे आसक्ति होती है और वह बन्धनकर्त्ता है; इसके लिये निम्नलिखित अर्द्धश्लोक बारंबार उच्चारण करे।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

अर्थात् कर्म मुझको लिप्त नहीं कर सकते, कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है।

मैं शरीर नहीं हूँ, किंतु तीनों शरीरका साक्षी हूँ, आत्मा हूँ—यों बारंबार बोला करे। मैं साक्षी हूँ, मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ—इसका चिन्तन करे।

९३—जगत्में दो चीजें हैं—एक द्रष्टा और दूसरा दृश्य। जो दृश्य है, वह विकारी और विनाशशील है, इसलिये मिथ्या है; और जो द्रष्टा है, वह नित्य अविकारी और अविनाशी है। हम द्रष्टा हैं, क्योंकि दृश्यको हम जानते हैं। जो द्रष्टा होता है, वह दृश्य नहीं होता; और जो दृश्य होता है, वह द्रष्टा नहीं होता। प्रथम साधक शरीरका द्रष्टा होता है और यह अनुभव दृढ़ होनेपर स्वयं अभ्यासके द्वारा सारे जगत्का द्रष्टा हो जाता है। मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा अनुभव होने लगता है। यह अभ्यास सहज नहीं है। मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ—यह चिन्तन सदा करे। एक क्षण भी इस चिन्तनके विना मनको न रक्खे। (इस पारमार्थिक मार्गके) प्रत्येक अभ्याससे मनमें ऐसी शक्ति आती है कि वह जो चिन्तन करता है, उसकी प्राप्ति होती है। इस कारण यह अभ्यास करते हुए यदि मायिक चिन्तन करता है तो मुक्तिका साधन अपूर्ण रह जाता है और साधक जन्म-मरणके चक्रसे नहीं छूटता।

९४—साधन दो कारणोंसे अधूरा रहता है—एक तो मायिक इच्छा होनेसे और दूसरा, साधन पूर्ण होनेके पूर्व ही शरीरान्त होनेसे। यदि ऐसा होता है तो साधक पवित्र तथा श्रीमंत परिवारमें जन्म लेकर वहाँ इच्छानुसार भोगोंको भोगता है और वहीं पूर्वजन्मके साधनको चालू रखता है। यदि मायिक वासना जाग्रत् न हुई और साधना शरीरान्त होनेके पहले पूर्ण न हुई तो वह साधक या सिद्ध योगीके घर जन्म लेता है और उसकी सहायतासे अपनी साधना आगे बढ़ाता है। किंतु यह मार्ग ऐसा है कि इसमें एक बार प्रवेश करनेवालेकी मुक्ति जल्दी या देरसे अवश्य होती है। इसलिये साधकको शान्ति और धैर्यपूर्वक साधनामें लगा रहना चाहिये।

९५—मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकको द्रव्योपार्जन करनेका व्यवसाय छोड़ देना चाहिये। केवल पेट भरनेके लिये किसीके द्वारा व्यवस्था कर ले। दूसरी सारी कामनाओं-का त्याग करे। मैं दूसरोंकी भलाई करूँ—यह भी एक प्रकारकी कामना है। जो विश्वम्भर है, वह जगत्में जिस समय जैसी आवश्यकता होती है, वैसा कर रहा है। दूसरी बात यह है कि स्त्रीका और सांसारिक पुरुषोंके सहवासका त्याग करे। एकान्तमें रहे। प्राकृतिक दृश्यके बीचमें रहे। सङ्गसे कामना जागती है और पतन होता है। राजर्षि भरत सङ्गके कारण मृगयोनिको प्राप्त हुए थे। सौभरि ऋषि जलमें बैठकर तप करते थे, वहाँ मछलीके जोड़ेका मिलन-प्रसङ्ग देखकर विवाह करनेके लिये तैयार हो गये और ५० रूप धारण करके ५० कन्याओंसे ब्याह किया। इस कारण साधक विषयानन्दी स्त्री-पुरुषका कभी साथ न करे। मौनका अभ्यास करे तथा एकान्त सेवन करे। मनको सदा आत्मचिन्तनके अभ्यासमें लगाये रक्खे, कभी बेकार न रहने दे। आहार सदा सादा करे और आत्मनिष्ठ पुरुषका—आत्माराम पुरुषका सदा सङ्ग करे।

९६—भगवान् श्रीकृष्ण जब गोपबालकोंके साथ बछड़े चराने गये, तब ब्रह्माजी उनकी परीक्षा करनेके लिये एक ओर बछड़ोंको और दूसरी ओर गोपबालकोंको चुराकर ले गये। यह जानकर भगवान् एक होकर भी, उनके माता-पिताको प्रसन्न रखनेके लिये स्वयं सारे बछड़े और सारे बालकोंके रूपमें प्रकट हुए। वस्त्र, लकुटी, बाँसुरी—जैसा जिनका रूप-रंग और स्वभाव था, वह उनके स्वरूपमें सर्वरूप हो गये। स्थावर-जंगम—सर्वस्वरूप हो गये। एक सौभरि ऋषिने ५० रूप धारण करके ५० कन्याओंसे ब्याह किया और ५० कन्याओंके साथ ५० रूप होकर रहे। एक श्रीकृष्णभगवान्ने १६१०८ कन्याओंके साथ १६१०८ रूप धारण करके ब्याह किया और १६१०८ रूप धारण करके रहे। वे जैसे एक होते हुए भी अनेक हो गये, फिर भी एकके एक ही रहे, उसी प्रकार परमात्मा एक होते हुए भी अनेक स्थावर-जंगमरूप होकर विलसित हो रहे हैं। वे परमात्मा एक और अनन्त होकर भी अनेक रूपोंमें भासित हो रहे हैं। सारा जगत् परमात्मस्वरूप या आत्मस्वरूप ही है। सर्वत्र आत्मा, परब्रह्म परमात्मा विलसित हो रहे हैं। इसमें जो नाम और रूप है, वह मिथ्या है। इस नाम और रूपके अणु-अणुमें व्यापक जो आत्मा है, वह सत्य है। और वह आत्मा मैं हूँ—इस प्रकार सदा चिन्तन करता रहे। विषयानन्दी होनेपर साधक विषयोंको प्राप्त होगा और जन्म-मरणके प्रवाहमें बहेगा। इसलिये विषयानन्दी न रहकर आत्मानन्दी बननेका अभ्यास करे, जिससे वह मुक्त हो जायगा।

कलियुगकी वृद्धि चरम सीमापर

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

कलियुगका स्वरूप और निदान

श्रीमद्भागवतादिके अनुसार महाराज युधिष्ठिर कलियुगको हटानेके लिये जन्मभर चेष्टा करते रहे और उसकी वृद्धि देखते निर्विण्ण हो हिमालयमें जा गले। इसे सुनकर अभिमन्यु-पुत्र परीक्षित् कलि-निग्रहके लिये निकल पड़े और उसे उन्होंने दण्डित किया (भागवत १ । १६ । १९) और तत्पश्चात् भी राजाओंका यह प्रयत्न चालू रहा। विक्रमादित्यने इसमें पर्याप्त सफलता पायी। श्रीव्यासजी भी कलियुगसे दुखी हुए। शार्ङ्गधरने श्रेष्ठ श्लोकोंका संग्रह किया जिनका आधार लेकर* गोस्वामी तुलसीदासजी भी प्रभुके सामने रोये।

राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचालु नई है॥
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है।
आस्रम-बरन-धरम बिरहित जग, लोक-बेद-मरजाद गई है॥
कामधेनु धरनी कलि गोमर बिबस बिकल जामति न बई है।
कलि करनी बरनिये कहाँ लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है॥
तापर दाँत पीसि कर मींजत, को जानै चित काह ठई है।

इत्यादि विनय-पत्रिका १३९ तथा कवितावली, मानस आदिमें भी तुलसीदासजीने ऐसी बातें बार-बार लिखी हैं।†

समर्थ रामदासजी भी कलियुगके आगमनसे व्यथित हुए। उन्होंने दासबोध (पृ० २६४-६५ हिंदी साहित्य कुटीर, वनारसका चौथा संस्करण) में लिखा है—नीच वर्णोंके गुरुपद पानेसे आचार डूब जाता है। कहा है—'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।' (शातातपसंहिता) अर्थात् सभी वर्णोंका गुरु ब्राह्मण ही है। पर अब (कलियुगमें) ब्राह्मण भी बुद्धिसे च्युत तथा आचारसे भ्रष्ट हो गये हैं। वे अपना गुरुत्व छोड़कर शिष्योंके भी शिष्य बन गये हैं। बहुत-से लोग स्वेच्छासे मुसल्मानतक हो गये हैं। यही कलियुगका आचार है। अब विचार तो कहीं रह ही नहीं गया है। अब आगे तो सभी जगह वर्णसंकरता ही होनेको है। अब नीच जातिके ही लोगोंको गुरुत्व प्राप्त होने लगा है और उन्हींकी महत्ता भी बढ़ गयी है।'''राज्य म्लेच्छोंके हाथमें चला गया है। गुरुत्व कुपात्रोंके पास चला गया है। हमलोग न इस लोकके रह गये न उस लोकके। अब हमारे पास कुछ भी न रह गया।'''हमारी अवस्था अब ऐसी हो गयी कि अन्न भी नहीं मिलता इत्यादि।

यह तो ३-४ शताब्दी पूर्वके साधकवर्योंके अनुभव रहे। अबकी स्थितिका वर्णन कौन करे। न तो हमने सत्ययुग देखा और न त्रेता, न द्वापर। तथापि अपने बाल्यकालमें ही जो निश्छलता, साधुभाव, सदाचार, शुद्ध दूध, दही, घी एवं सस्ता अन्न (प्रायः १ रु० का आधा मन तथा दाल, गुड़ आदि एक मन) तक देख आये हैं, उसीके सामने यह निरन्तरव्यापी तथा १९४१ से अबतक उत्तरोत्तर भीषण महर्घता, नृशंसता, विद्वान् साधु-ब्राह्मणों एवं गवादि पशुओंकी उपेक्षा, उनकी दुर्दशा, मशीनीयुग या कलयुग (उपनाम कलियुग) की सर्वत्र बाढ़ देखते हैं तो वाणी नितरां कुण्ठित ही रह जाती है। फिर कहा जाय तो सुननेवाला कौन ? तथापि विश्वरूपव्याप्त जनार्दनके संतोषार्थ कुछ लिखना आवश्यक है—

अस्तु। प्रायः १८ पुराणों (विशेषकर उनके माहात्म्यों), अधिकांश स्मृतियों एवं ज्यौतिषग्रन्थोंमें भी कलियुगका वर्णन मिलता है। वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों (ऐत० ७ । ३-१५) में भी इसकी संक्षिप्त चर्चा आयी है। किंतु शुक्र-नीति, महाभारत तथा मनुस्मृतिमें धर्माधिक्यको सत्ययुगका तथा धर्म-निरपेक्षता—धर्मशून्यताको कलियुगका लक्षण कहकर राजाको ही उसका मुख्य कारण बतलाया गया है—

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः॥
(मनु० १ । ८१-८२)

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥
(मनु० ९ । ३०१)

---

* धर्मः प्रव्रजितस्तपः प्रचलितं सत्यं च दूरे गतं
पृथ्वी मन्दफला नराः कपटिनश्चित्तं च शाठ्योर्जितम्॥
राजानोऽर्थपरा न रक्षणपराः पुत्राः पितुर्द्वेषिणः
साधुः सीदति दुर्जनो विलसति प्राप्ते कलौ दुर्युगे॥
(शा० प०, गरुडपुराण १ । ११५ । २, बृहस्पतिनीतिसार०, चाणक्य ७ । २, सुभा० भां० ३ । ४१२ । २८ इत्यादि)

† देखिये—खेती न किसान को भिखारीको न भीख बलि''' इहा करी।
(कवितावली, उत्तरकाण्ड आदि)

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम् ॥
दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः ॥
कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ।
रसाः सर्वे क्षयं यान्ति······क्वचित्सस्यं प्ररोहति ॥
राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥
ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्तिं पापं च विन्दति ॥

महाभारत, शान्तिपर्व ६९ । ७८–१०१, उद्योगपर्व० १३२ । १४–१७, शुक्रनीतिसार १ । ६०–६४, भोजप्रबन्ध चौखंबा० सं० पृ० ९; योगवासिष्ठ (निर्णयसा० सं०) पृ० ३१७ तथा ६१८, अद्भुतदर्पण नाटक पृ० ३२७ तथा १३२ (निर्णयसा० सं०) प्रबन्धचिन्तामणि ५ । ५५ इत्यादि ।*

* यह सब कथन उपर्युक्त मनुस्मृतिका मानो भाष्य-सा प्रतीत होता है । सबका सारांश यह है कि वास्तवमें राजा ही युग है और इसमें तो लेशमात्र भी संदेह नहीं कि राजा ही युग-कालादिका कारण होता है । (दण्डनीतिका धारण खिलवाड़ नहीं है । इसे कोई परम श्रेष्ठ तपस्वी ही धारण कर सकता है । अतः राजाको परम तपोमय ही होना चाहिये ।) जब राजा उसे ठीक पालन करनेमें सक्षम होता है तो सत्ययुग होता है । जब राजा दण्डनीतिका न अपने ऊपर प्रयोग करता है और न प्रजाके ऊपर अर्थात् असंयमी बन-बनाकर जब राजा-प्रजा पूर्ण विलासोन्मुख एवं विलासी बन जाते हैं, तब कलियुग होता है । कलियुगमें सर्वथा धर्मनिरपेक्षता होती है, अधर्म बढ़ता है, धर्म (संयम, नियन्त्रण, स्वकर्तव्य, न्याय) मिट-सा जाता है । सभी लोग स्वकर्तव्यविमुख हो जाते हैं । सभी ऋतुओंमें व्यतिक्रम होता है, ग्रीष्मादिमें वर्षा तथा वर्षादिमें शीत-ग्रीष्मका प्रादुर्भाव दीखता है । जल, घी, दुग्ध, दही, मट्ठा एवं अन्यान्य सभी रस-द्रव पदार्थ भी लुप्त होने लगते हैं । ऐसे युगका निर्माता कारण वह राजा घोर नरकमें जाता है तथा अनन्तकाल तक वहीं पड़ा रहता है । इधर शाश्वत कालतक उसे अपकीर्ति एवं कल्मष अलगसे मिलते हैं । वह वेनके समान सत्पुरुषोंमें सदा अप्रतिष्ठा एवं घोर घृणाका पात्र ही बना रहता है ।

धर्मका अर्थ

धर्माङ्कके एक लेखमें श्रीसम्पूर्णानन्दजीने भी 'धर्म' तथा 'धर्मनिरपेक्षता' पर विचार करनेकी चेष्टा की थी और 'धर्मनिरपेक्षता' शब्दके आगमनको अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण ही बतलाया था । पर 'धर्म' शब्दकी उन्होंने कोई स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत नहीं की थी । वास्तवमें धर्म-शब्दका परम्परा-प्राप्त मुख्य अर्थ न्याय, कर्तव्य, संयम, सत्कार्य, अच्छा कार्य आदि है—

धर्मोः पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः ।
(अमरकोश ३ । ३ । १३९)

धर्मोऽहिंसोपमायागोपनिषत्सु धनुष्यपि ।
(त्रिकाण्डशेष ३ । ३ । २९८)

धर्मोऽस्त्री पुण्य आचारे स्वभावोपमयोः क्रतौ ।
अहिंसोपनिषन्न्याये ना धनुर्यमसोमयोः ।

(मेदिनी-मङ्खिकं तथा रत्नमाला, वैजयन्ती, शब्दरत्नावली, अभिधानचिन्तामणि, हलायुध, अनेकार्थसंग्रह २ । ३३०, विश्वप्रकाश पृ० १११, मङ्खिकं १७ इत्यादि)

इसके अतिरिक्त 'सत्यान्नास्ति परो धर्मः' तथा 'धर्म कि दया सरिस हरिजाना' इत्यादिमें क्षमा, दया, सत्य, अस्तेय, शान्ति आदिको भी श्रेष्ठ धर्म माना गया है । तब धर्मनिरपेक्षताका अर्थ ही होता है—क्षमा, दया, सत्य, अस्तेय, न्याय, अहिंसा आदिसे रहित—अत्यन्त दूर तथा चोरी, बेईमानी, क्रोध, व्यभिचार, मिथ्या, धोखा एवं जाल-फरेब-सापेक्ष, अथवा इन सभीसे अलंकृत । यदि कहें कि हमारा तात्पर्य तो अंग्रेजीके Secular* तथा Theocratic† शब्दोंसे है । तो यही कहना होगा कि आपके पास भारतीय भाषा तथा भारतके समस्त इतिहास, संस्कृति, साहित्य, आचार-विचारका लेशमात्र पारिचायिक ज्ञानतक भी नहीं है, अन्यथा आप ऐसा शब्द-चयन न करते और न सारी इनके अर्थमें उल्टी गङ्गा बहाकर देशपर हजारों संकट लादकर सर्वथा इसकी दुर्दशा कर देते । सच बात यह है कि इस धर्मनिरपेक्षता तथा विलासप्रवणताके कारण ही भारतमें जनसंख्या-वृद्धि, बेकारीकी वृद्धि, विनाशकारिणी शिक्षा,

* Pertaining to this present world only and not the world or life after this.'

† The constitution of a state in which the Almighty is regarded as the sole sovereign, and the laws of the realm as divine commands rather than human ordinances.

कृषिकी महती उपेक्षा तथा अन्नादिका उत्तरोत्तर अभाव एवं ऋतुविपर्यासादि समस्त दैवी उपद्रव भी प्राप्त हुए हैं। यदि कहें कि धर्मनिरपेक्षतासे मतलब मजहब-निरपेक्षतासे है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सरकारद्वारा सदा ही हिंदू-धर्म, Hindu Law में हस्तक्षेप, सुधार (बिगाड़), तिरस्कार करनेका यत्न तथा बौद्ध, ईसाई, इस्लामादिको प्रोत्साहित, संवर्धित करनेका बार-बार यत्न हुआ है और यह सब भी इसी कारण है कि आपको इन किन्हीं मजहबोंके सम्बन्धमें भी पूरी जानकारी नहीं है और कम-से-कम भारतीय शास्त्र-साहित्य-संस्कृति-इतिहासका ज्ञान तो है ही नहीं। अन्य संस्कृतशास्त्र—वेद-इतिहास, पुराण-दर्शन-साहित्यकी बात तो अलग रही, रामचरितमानसका भी अध्ययन-अनुशीलन नहीं दीखता। हमारे एक विगत बहुत बड़े नेता थे, जो आजकलके कर्णधारोंके आदर्श तथा इनसे अपेक्षाकृत अधिक जानकार माने जाते थे [और यह ठीक भी है] पर उन्होंने भी रामचरितमानसका स्पर्शतक नहीं किया था और न वे यही जानते थे कि उस ग्रन्थका नाम क्या है तथा वह कब और कैसे लिखा गया था। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थमें उसकी कटु निन्दा की और उसका जहाँगीरके राज्यमें रचा जाना लिखा है,* जब कि तुलसीदासजी स्वयं—

संवत सोरह सै एकतीसा। करौं कथा हरि पद धरि सीसा।

—लिखते हैं और यह सन् १५७४ ईस्वी होता है, जब कि जहाँगीरका राज्यकाल, उनके आंगलाचार्योंके अनुसार, आरम्भ ही होता है ३ नवंबर १६०५ ई० अथवा संवत् १६६२ से † और समाप्त ७ नवम्बर १६२७ को ‡। वास्तवमें गोस्वामीजीका आरम्भिक समय सिकन्दर लोदी तथा इब्राहिम लोदीके कालसे होता है और हिंदी रामायण नहीं, रामचरितमानसका लेखन समय है—अकबरका राज्यत्वकाल। यह तो स्थिति है सर्वोच्च नेताके इतिहास-ज्ञानकी, जिसका उन्हें अपने ज्ञानोंमें सर्वाधिक ज्ञान तथा प्रेम होनेका गर्व था, जैसा कि उन्होंने अपने ग्रन्थके आरम्भमें लिखा है, फिर शेष ज्ञानके लिये क्या कहें। जब कि उन्हें हिंदी-संस्कृत भाषाओंका ही कोई ज्ञान न था, फिर वे तथा उनके शिष्यगण हिंदीका तिरस्कार करके अंग्रेजीके ही लिये जान न देते तो क्या करते ?

अस्तु। कलिके वर्णनमें व्यास, तुलसीदास आदिने अकालका भी भीषण चित्रण किया है—

कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी बहु लोग मरै॥

इस समय यद्यपि ज्ञानके साथ कहा जाता है कि किसी भी मनुष्य या पशुकी मृत्यु नहीं हुई, पर स्थिति यह है कि हजारों-हजारों पशु मरे हैं और चमारोंने उनका चमड़ा उतारना तक छोड़ दिया है। वे खेतोंमें सड़ते रहे हैं और विहारमें ४-५ शतसे अधिक मनुष्योंकी भी मृत्यु खाद्यान्नके अभावके ही कारण हुई है। यथार्थ स्थिति यह है कि सामान्यतया सभी मनुष्योंको पौष्टिक पदार्थोंका अभाव है—'तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्' हो रहा है। पूर्ण भोजन तो सम्भवतः किसीको भी नसीब नहीं है। एक-एक परिवारमें बहुतसे स्त्री-बच्चे होते हैं और जब पशुधन ही नहीं तो गव्य घृत-दुग्धादि कहाँसे प्राप्त होंगे। यों तो यह समस्त देशकी ही स्थिति है। पर विहारके कई स्थान तो सर्वथा उजाड़-से ही हो गये हैं। यद्यपि सरकारने बहुत कुछ उद्योग किया, पर निदान जाने बिना चिकित्सा सफल नहीं होती।§ इस सम्बन्धमें श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी)का अप्रैलके कल्याणके

---

* **Tulsidas in his deservedly famous poem, the Hindi Ramayan, written during Jahangir's time, painted a picture of woman, which is grossly unfair and prejudiced.**

† **Eight days after his father's death, the new sovereign (Jahangir) crowned himself in the fort of Agra, on Thursday, 3 November, 1605, being then thirty-six years old (Tuzuk-i-Jahangir, by Jahangir himself (1622-23), lethographed at Aligarh, 1864. English Translation by A. Rogers, Edited by H. Beveridge, Vol. 1 (1909) Campridge. Hist. India Vol. IV Mughal period, Chapter VI, V. A. Smith's Oxford History of India, Book VI, Part II, Chapter 4., p. 363).**

‡ **He died in the early morning of 7th November 1627 (*ibid*, p. 178, 3rd line).**

§ इसपर हमारे कल्याणके पूर्व वर्षोंमें प्रकाशित दुर्भिक्षनिवारण तथा 'महाराज पृथु' लेख देखने चाहिये।

अन्तिम पृष्ठपर प्रकाशित वक्तव्य अवश्य मनन करना चाहिये और हमारे इस लेखके भी 'निदान' अंशको विशेष व्याख्यापूर्वक पढ़कर लाभ उठाना चाहिये।

साधकोंके संतोषके लिये दो शब्द

तथापि कहा जाता है कि शास्त्र समस्त दुःख-शोकापनोदक है—'मा शुचः' 'नानुशोचन्ति पण्डिताः' आदि। वास्तवमें अध्यात्मशास्त्र ऐसे ही हैं। गरुड़पुराण (१। २२२। २२) में कहा गया है कि भगवद्ध्यान करते ही सत्ययुग हो जाता है तथा कलिमें धर्माचरणका फल भी बहुत अधिक होता है (द्र० कल्याण ३७। ६)।

कलौ कृतयुगस्तस्य कलिरेव कृते युगे।
हृदये यस्य गोविन्दो यस्य चेतसि नाच्युतः॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजके भी—

कृतयुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे॥
बुध जुग धर्म समुझि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं॥

—आदि ये कथन कुछ इसी प्रकार हैं। योगवासिष्ठमें भी बार-बार विश्वको भगवद्रूप कहकर—समझाकर कलियुगकी निराकृति की गयी है। एवं समस्त विश्वादिको सदा मङ्गलमय-कल्याणमय प्रभुका ही शाश्वत रूप कहा गया है—यद्यपि यह ऐसा ही है तथापि सज्जनोंको शान्तिसे इसके मायिक रूपको भी सर्वथा शुद्ध शान्त करनेका सतत समस्त दोषोंसे अलग रहकर प्रयत्न करना चाहिये। इसीमें शुद्ध ज्ञान, भक्ति तथा शुद्ध कर्मका पर्यवसान हो सर्वशुद्ध शान्ति-सुखकी उपलब्धि होती है।

रामचरितमानसमें विद्यार्थी-धर्म

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी वर्मा, एम्० ए०)

हिंदू-धर्मके आधारभूत सिद्धान्तोंमें चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—का बड़ा महत्त्व है। ब्रह्मचर्याश्रमके लिये एक दूसरा नाम भी दिया जाता है—विद्यार्थी-जीवन। यों तो विद्यार्थीका अर्थ है—ज्ञानका साधक और ज्ञान-प्राप्तिकी यह साधना आजीवन चलती रहती है; परंतु मोटे अर्थमें ब्रह्मचर्याश्रम अथवा विद्यार्थी-जीवनसे हमारा अभिप्राय शतायुके उस प्रथम चरणसे है जो जन्मसे प्रारम्भ होकर गृहस्थाश्रमसे पूर्व पचीस वर्षकी अवधिका माना जाता है। आर्योंके विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों—वेद, पुराण, उपनिषदादिमें चारों आश्रमोंके लिये मानव-धर्मका विस्तारसे उल्लेख मिलता है। इन धर्मोंका पालन करते हुए मनुष्य देहक्षयसे पूर्व लौकिक सुख एवं पारमार्थिक लाभकी प्राप्ति कर सकता है। इन चार आश्रमों एवं उनके धर्मोंका विधान हमारे जीवनको पूर्णत्वकी प्राप्तिमें सहायता पहुँचानेके लिये ही किया गया है। इसलिये इनमें ब्रह्मचर्याश्रम अथवा विद्यार्थी-जीवनका स्थान जीवनरूपी भवनके उस आधारभूत मूल भित्तिके समान है, जिसके सुदृढ़ हुए बिना भवनका अस्तित्व अधिक समयतक नहीं रह सकता। विद्यार्थीधर्मका उल्लेख वेदों, उपनिषदों एवं स्मृत्यादि शास्त्रोंमें विधि-निषेधके रूपमें विस्तारसे मिलता है। परंतु वहाँ इन धर्मोंका आदेशात्मक तथा उपदेशात्मक रूप होनेके कारण इतना प्रभावोत्पादक नहीं, जितना गोस्वामीजी द्वारा उन्हीं बातोंको विश्वके अद्वितीय साहित्यिक रत्न श्रीरामचरितमानसमें जन-भाषामें निबद्ध करके प्रस्तुत किया गया है। इसे 'मानस'कर्ताने ग्रन्थारम्भमें किये गये प्रतिज्ञा-वचन—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं य-
द्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि……,

कहकर स्वीकार किया है।

वे महापुरुष जो ईश्वर, पुनर्जन्म तथा परलोकादिमें विश्वास नहीं रखते, फिर भी जगत् उन्हें महापुरुष स्वीकार करनेमें नहीं सकुचाता, इसका कारण यह है कि वे सदाचार सम्याचरण आदि समाजोचित गुणोंमें न केवल विश्वास रखते हैं अपितु वे आस्तिक कहे या समझे जानेवाले लोगोंसे उन नियमोंका अपेक्षाकृत अधिक पालन करते हैं। ये वे ही आचरण हैं, जो विश्व-साहित्यमें अपने-अपने ढंगसे व्यक्त किये गये हैं। उनके तरीकोंमें ऊपरसे अन्तर होते हुए भी एक बातकी समानता है कि ऐसा व्यवहार करनेवाला समाजकी दृष्टिमें शिष्ट माना जाता है। परिणामतः वह सभीके स्नेह, आदर, सम्मान एवं श्रद्धा आदि सद्भावोंका पात्र बन जाता है। जिस व्यक्तिमें इन गुणोंका जितना आधिक्य होगा, वह उतना ही अधिक समाजके लिये आदर्श बन सकेगा।

श्रीरामचरितमानसके सत्पात्रोंके प्रति हमारे मनमें सद्भावोंके उदयका कारण उनके द्वारा सदाचारका पालन ही है । प्रस्तुत प्रसङ्गमें हम संक्षेपमें यह दिखायेंगे कि मानसके विभिन्न पात्रोंके कौन-से आचरण विद्यार्थियोंके लिये अनुकरणीय हो सकते हैं ।

१. मातृ-पितृ-भक्ति एवं गुरु-भक्ति

तैत्तिरीयोपनिषद्में कहा गया है—

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ।

अर्थात् पुत्र ! तुम मातामें देव (ईश्वर-)-बुद्धि रखना, पितामें देवबुद्धि रखना, आचार्यमें देवबुद्धि रखना तथा अतिथिमें भी देवबुद्धि रखना । आशय यह कि शास्त्र आदेश देता है कि इन चारोंको ईश्वरकी प्रतिमूर्ति समझकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सदा इनकी आज्ञाका पालन, वन्दन और सेवा करते रहना चाहिये और इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहारसे प्रसन्न रखना चाहिये । आदेश होनेके कारण कोई बात कभी-कभी रूक्ष लगने लगती है । परंतु वही बात यदि साहित्यिक ढंगसे कही जाय तब वह कान्तासम्मितोपदेश-के समान प्रभावकारी सिद्ध होती है । रामचरितमानसमें राजा भी अपने कुलगुरु तथा मुनि आदिका किस प्रकार सम्मान करता है, यह देखने योग्य है । राजा दशरथके दरबारमें विश्वामित्र जब राम-लक्ष्मणको लेने जाते हैं, तब—

मुनि आगमन सुना जब राजा । मिलन गयउ लै बिप्र समाजा ॥
करि दंडवत मुनिहि सनमानी । निज आसन बैठारेन्हि आनी ॥
चरन पखारि कीन्हि अति पूजा । मो सम आज धन्य नहिं दूजा ॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा । मुनिबर हृदयँ हरष अति पावा ॥

जब गुरु राजाके द्वारा भी पूज्य है, तब विद्यार्थी जो अभी अपना अध्ययन पूर्ण नहीं कर पाया है, उसके द्वारा गुरु कितना पूज्य है, स्वयं समझनेकी बात है ।

२. शिष्यद्वारा गुरुकी चरण-सेवा

विश्वामित्रके आश्रममें जब राम-लक्ष्मण रहते हैं, तब रात्रिको गुरुजीके शयनसे पूर्व दोनों भाई उनके चरण दबाते हैं—

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई । लगे चरन चापन दोउ भाई ॥
... ...
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते । गुर पद कमल पलोटत प्रीते ॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥

स्वयंको शहरी तथा 'मॉडर्न स्टुडेंट्स' समझनेवाले विद्यार्थियोंको इससे कम-से-कम इतना पाठ तो सीखना ही चाहिये कि विद्यालयमें आने, वहाँसे विदा होते समय अथवा लंबी अवधिके पश्चात् मिलनेपर गुरुजीके चरणोंका स्पर्श करें । इतना भी नहीं तो नतमस्तक होकर उन्हें प्रणाम अवश्य करें । परंतु आजकल हाथ जोड़कर तथा मस्तक नवाकर अपने पूज्य जनोंको प्रणाम करना देहाती रिवाज या गद्‌गदानन्दी होना समझा जाता है ।

३. बड़ोंकी आज्ञाका संकेत पाने मात्रसे उसका पालन

क्रोध, उत्साह आदि भावुक क्षणोंके आनेपर भी बड़ोंका संकेत पाकर तदनुकूल आचरण करना समझदार छोटोंका धर्म है । वे किसी भी प्रकारके भावावेशमें बड़ोंकी किसी आज्ञाकी उपेक्षा न कर दें; लक्ष्मणका चरित्र इस दृष्टिसे अत्यन्त अनुकरणीय है । लक्ष्मणजी जब यह देखते हैं कि उनके अग्रज रामको सुग्रीवकी कृतघ्नतापर क्रोध आ रहा है—

लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना । धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना ॥

तब उन्होंने तुरंत धनुष चढ़ाकर बाण हाथमें ले लिया । भला, रामके कोपभाजनको वे किस प्रकार क्षमा कर सकते थे । जनककी स्वयंवरशालामें जब लक्ष्मण एक बार पुनः अपना उग्ररूप दिखाते हैं—

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई । तेहिं समाज अस कहइ न कोई ॥
सुनहु भानुकुल पंकज भानू । कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू ॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं । कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी । सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी ॥
तव प्रताप महिमा भगवाना । को बापुरो पिनाक पुराना ॥
लखन सकोप बचन जे बोले । डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥
सयनहिं रघुपति लखनु नेवारे । प्रेम समेत निकट बैठारे ॥

ऐसे क्रोधशील लक्ष्मण अपने अग्रज रामके संकेत मात्र-पर निर्विलम्ब संकोचपूर्वक शान्त होकर बैठ जाते हैं । हमारे कितने भी क्रोधशील होनेपर, बड़ोंके समझानेपर हमें तुरंत शान्त हो जाना चाहिये—उपर्युक्त उदाहरणमें लक्ष्मण-जीका आचरण इसी शिक्षाका द्योतक है ।

४. बड़ोंसे संकोचपूर्वक परिचय पूछना

शिकारकी खोज करते हुए वनमें राजा प्रतापभानु जब

कपटमुनिके आश्रममें पहुँचता है तब उसके मुनिवेषको देखकर वह उसे सचमुच मुनि ही समझ लेता है । ऐसी दशामें राजा उससे परिचय पूछता है—

नृप बहुभाँति प्रसंसेउ ताही । चरन बंदि निज भाग्य सराही ॥
पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई । जानि पिता प्रभु करउँ ढिठाई ॥
मोहि मुनीस सुत सेवक जानी । नाथ नाम निज कहहु बखानी ॥

यह समझकर कि जिससे परिचय पूछा जा रहा है, वह वय, विद्या, पदादिमें कोई श्रेष्ठ व्यक्ति दिखायी देता है, तब हमें चाहिये कि पहले उसके प्रति पूर्णतः पूज्यभाव प्रकट करें; फिर अपने भाग्यकी सराहना करके उसे पूज्य शब्दोंसे सम्बोधित करते हुए परिचय देनेकी संकोचपूर्वक प्रार्थना करें । इस दृष्टिसे उपर्युक्त पंक्तियोंमें राजाद्वारा कपटमुनिके प्रति 'प्रभु' एवं 'नाथ' शब्दोंका प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है ।

५. पूर्वपरिचित पूज्यजनका अचानक आगमन

यदि कोई पूर्वपरिचित पूज्यजन अपने घरपर एकाएक आ जायँ तो उनसे आगमनका कारण पूछते समय विशेष शिष्टता बरतनी चाहिये । राजा दशरथके पास जब विश्वामित्रजी राम-लक्ष्मणको लेने आते हैं, तब राजा मुनिजीसे आगमनका कारण कितनी शिष्टतापूर्वक पूछते हैं ! देखिये—

तब मन हरषि बचन कह राऊ । मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा । कहहु सो करत न लावउँ बारा ॥

पूछनेके ढंगमें कहीं भी यह आभास नहीं होता कि बिना बुलाये क्यों आये ! क्योंकि आगमनका कारण पूछनेके साथ ही उसका तत्क्षण पालन करनेकी प्रतिज्ञा भी व्यक्त कर दी गयी है ।

६. अपने पूज्यजनोंसे बात करते समय मुद्रा

यहाँ इसमें पूर्णतः विनीतभाव प्रकट होना चाहिये । वाल्मीकिके आश्रममें मुनिजी रामसे जब वनवासका कारण पूछते हैं, तब राम हाथ जोड़कर उत्तर देते हैं—

तब कर कमल जोरि रघुराई । बोले बचन श्रवन सुखदाई ॥

जनककी स्वयंवरशालामें जब गुरु विश्वामित्र रामसे शिवका धनुष तोड़कर जनकका परिताप हरनेका अनुरोध करते हैं, तब रामके उठकर खड़े होनेके ढंग तथा मुख-मुद्राकी ओर ध्यान दीजिये—

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा । हरषु बिषादु न कछु उर आवा ॥
ठाढ़े भए उठि सहज सुभाएँ । ठवनि जुबा मृगराजु लजाएँ ॥

पूर्ण यौवनको प्राप्त हुए सिंहके समान जिन रामका बलिष्ठ शरीर है, वे भी गुरु एवं अन्य उपस्थित वृद्धजनोंके सम्मुख कितने स्वाभाविक एवं विनीत ढंगसे खड़े होते हैं ! फिर धनुष-स्थलकी ओर जब वे पग बढ़ाते हैं, तब भी एक बार पहले गुरु तथा अन्य मुनियोंसे आज्ञा ले लेते हैं । इस समय रामके चलनेके ढंगकी ओर ध्यान दीजिये—

गुरु पद बंदि सहित अनुरागा । राम मुनिन्ह सन आयसु मागा ॥
सहजहिं चले सकल जगस्वामी । मत्त मंजु बर कुंजर गामी ॥

७. घर आये गुरुजनोंके आगमनपर स्वागत करनेकी विधि

यह सुनते ही कि हमारे घर गुरुजनने आनेका कष्ट किया है, एक क्षणका भी विलम्ब किये बिना द्वारपर पहुँचकर उनका स्वागत करना, उचित रीतिसे उन्हें अंदर लिवाकर लाना, अपने घर आनेपर उन्हें कष्ट हुआ होगा, जिस कार्यके लिये उन्हें आना पड़ा 'गुरुजी, ! मुझे ही क्यों न बुलवा लिया'—यों कहते हुए जो आज्ञा हो उसे जानना समझदार छोटोंका परम कर्त्तव्य है । गुरु वसिष्ठ जब रामके महलमें आते हैं और ज्यों ही उन्हें पता लगता है कि कुलगुरुने स्वयं मेरे पास आनेका कष्ट किया है, राम दौड़कर द्वारपर पहुँचकर उनका स्वागत करते हैं, फिर जो कुछ जिस प्रकार कहते हैं, उसकी ओर ध्यान दीजिये—

गुर आगमनु सुनत रघुनाथा । द्वार आइ पद नायउ माथा ॥
सादर अरघ देइ घर आने । सोरह भाँति पूजि सनमाने ॥
गहे चरन सिय सहित बहोरी । बोले रामु कमल कर जोरी ॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू । मंगल मूल अमंगल दमनू ॥
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती । पठइअ काज नाथ असि नीती ॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू । भयउ पुनीत आजु यह गेहू ॥
आयसु होइ सो करौं गोसाईं । सेवकु लहइ स्वामि सेवकाईं ॥

८. घर आये बड़ोंको बिदाई देनेका ढंग

रामके विवाहके पश्चात् मुनि विश्वामित्र राजा दशरथके यहाँ कुछ दिन आतिथ्य पाकर जब लौटते हैं, तब राम उन्हें कुछ दूर तक छोड़ने जाते हैं—

राम सप्रेम संग सब भाई । आयसु पाइ फिरे पहुँचाई ॥

आजके युगमें गुरु, पण्डित और पुरोहितका मान घरमें रहनेवाले जामातासे भी 'बढ़कर' होने लगा है !!

९. बड़ोंकी इच्छा न होनेपर भी उनका पीछा करना धृष्टता

किसी कारणसे यदि श्रेष्ठ लोगोंके साथ अपनी इच्छासे चलना पड़ ही जाय, तब पहले उसका कारण बताना, तदनन्तर आज्ञा लेकर ही उनका अनुगमन करनेमें शिष्टता है। उनकी इच्छाके विरुद्ध पीछे-पीछे चलना आजकलके अड़ियल भिखारी स्वभावके समान है। रामके वनवासके समय मार्गमें जब उन्हें ग्रामवासी मिलते हैं, तब वे रामके आगामी मार्गकी भयंकरताको जानकर उन्हें उस मार्गसे सकुशल निकाल देनेकी भावनासे प्रेरित होकर कुछ दूरतक जानेकी इच्छा प्रकट करते हुए कहते हैं—

करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहि सिरु नाई॥

कहनेको ये लोग देहाती हैं, परंतु आचरण कितना विनयपूर्ण एवं सभ्य है—इससे न केवल विद्यार्थियोंको अपितु पूर्ण नागरिक समाजको पाठ सीखनेकी आवश्यकता है।

१०. पूज्योंके चरण-चिह्नोंको भी पैर न लगाना

वनवासमें जब राम, सीता और लक्ष्मण चल रहे हैं, तब सीताके लिये रामके चरण-चिह्न पूज्य हैं तथा लक्ष्मणके लिये राम और सीता दोनोंके चरण-चिह्न पूज्य हैं। इसलिये दोनों अपने-अपने पूज्योंके चरण-चिह्नोंसे बचकर पैर रखते हैं। उन्हें ज्ञात है कि ऐसा करनेमें ही मर्यादाकी रक्षा है। देखिये—

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥
सीय राम पद अंक बराएँ। लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥

सीता कितनी सतर्क हैं कि कहीं धोखेसे भी रामके चरण-चिह्नोंको पैर न लग जाय। मर्यादाकी रक्षामें लक्ष्मण सीतासे कम नहीं हैं। वे न केवल पीछे चल रहे हैं; चरण-चिह्नोंको बचाकर पैर रख रहे हैं, अपितु उन्हें दायीं ओर ले रहे हैं; क्योंकि पूज्यको बायीं ओर लेनेमें उसका अपमान है।

आजकल विद्यार्थी गुरुजनोंकी अनुपस्थितिमें क्या उनके सम्मुख ही उनके आसनपर जमे रहते हैं। इसे सभ्यता कहा जाय, आधुनिक शिक्षाका प्रभाव अथवा उद्दण्डता? विचारशील पाठक स्वयं ही निर्णय करें।

११. शङ्काको संकोचपूर्वक पूछना

'मानस'की वास्तविक कथा आरम्भ करनेके समय सती शिवसे रामके अवतार होनेके विषयमें अपने मनमें उठी शङ्काको बिल्कुल स्वाभाविक एवं विनम्र ढंगसे प्रस्तुत करती हैं। साथ ही पूछनेके ढंगमें कोई भूलसे भी गलती हो गयी हो तो उसके लिये क्षमा माँग लेती हैं—

जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥
अग्य जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू॥

परंतु आजका विद्यार्थी जब अपने गुरुजनोंसे कुछ पूछता है, तब उसके लहजेको सुनकर यह समझना कठिन हो जाता है कि वह गुरुजीके सम्मुख अपनी जिज्ञासा प्रकट कर रहा है अथवा उनका 'इन्टरव्यू' ले रहा है। इतना ही नहीं—कुछ विद्यार्थी गुरुजीकी बात सुनकर यहाँतक कह देते हैं—'यह बात गलत है', 'यह बात नहीं है', 'आपको नहीं मालूम' आदि आदि।

१२. बिना पूछे बोलनेसे पूर्व क्षमा माँगना

रामको जब यह पता चलता है कि पिताजीको मेरे वनवासके वरदानसे दुःख हो रहा है, तब वे उनके बिना पूछे कुछ कहना चाहते हैं। इसके लिये पहले क्षमा माँगते हैं—

तात कहउँ कछु करउँ ढिठाई। अनुचित छमब जानि लरिकाई॥

परंतु आजकल विद्यार्थियों एवं घरमें बच्चोंका बिना पूछे बीच-बीचमें बोलना अजीब स्वभाव हो गया है। इतना ही नहीं, गुरुजनोंकी बातको क्षणभरमें गलत घोषित कर देनेमें न जाने वे अपनी कौन-सी योग्यताका प्रदर्शन करते हैं।

१३. बड़ोंके विपरीत कुछ कहनेसे पूर्व पहले उन्हींकी बातका अनुमोदन

वनके लिये प्रस्थान करनेसे पूर्व राम सीताको जब साथ न चलनेके लिये बहुत समझा चुके, परंतु विचार करनेपर सीताको यह उचित नहीं लगा, तब रामके विपरीत अपनी बात कहनेसे पूर्व पहले वे उन्हींकी बातके औचित्यको स्वीकार करती हैं—

दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परम हित होई॥

अब अपनी बात कहती हैं—

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥

एक उदाहरण भरतका भी देखिये—

रामके वन चले जानेके पश्चात् गुरु वसिष्ठ एवं सभी मन्त्रिगण भरतको हर प्रकार राजगद्दी सँभाल लेनेका औचित्य समझाते हैं। भरतके सम्मुख धर्म-संकटकी स्थिति आ पड़ी है। वह गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करें अथवा अपनी आत्माकी सच्ची पुकारका! गुरु वसिष्ठ तथा अन्य मन्त्रियोंकी बात सुनकर भरतजी अपनी बात कहनेसे पहले उन सबकी बातोंका सादर अनुमोदन करते हैं—

मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किएँ बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥
तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीकें। तदपि होत परितोषु न जी कें॥
अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावनु देहू॥
ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥

सभी गुरुजनोंकी सलाहको आज्ञाके समान समझकर—'अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा' फिर—

उचित कि अनुचित किएँ बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥

तथा अन्तमें—

ऊतरु देउँ छमब अपराधू।

—आदि बातें क्रमपूर्वक कहकर भरतने शिष्टता एवं समझदारीका अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।

१४. बड़ोंके क्रोधित होनेपर सभ्य छोटोंके द्वारा उनसे बोलनेका ढंग

जनककी स्वयंवरशालामें रामके द्वारा धनुष-भङ्ग कर दिये जानेके पश्चात् जब परशुरामजी वहाँ आकर क्रोध करते हैं तथा मिथिलेशके अतिरिक्त धनुषभङ्गकर्ताको कहने-न-कहने योग्य बातें कह डालते हैं, तब भी राम अपने धैर्यसे च्युत नहीं होते। हाँ, लक्ष्मणने अवश्य विनोदयुक्त रोष प्रकट किया; वह भी जब परशुरामने अति ही कर दी। शास्त्रोंने भी अतिको अक्षम्य कहा है। इसलिये लक्ष्मणका क्रोध न केवल धर्ममय एवं नीतिसे प्रेरित ही था अपितु स्वाभाविक भी था; क्योंकि किसी समर्थ छोटेके सम्मुख उसके पूज्यका कोई अपमान करे और वह मौन खड़ा देखता रहे, यह असम्भव है। ऐसे समय लक्ष्मण-जैसी स्थितिके व्यक्तिके लिये शान्त रहना क्लीबताका प्रदर्शन था। परंतु अन्तर्यामी एवं मर्यादाके अवतार रामने जिस धैर्य, सहिष्णुता एवं समझदारीका परिचय दिया, वह अवश्य अनुकरणीय है। जनकके प्रति परशुरामजीके यह कहनेपर—

अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥
बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू॥

भरी सभामें जनकके लिये परशुरामद्वारा 'जड़' 'मूढ़' आदि शब्दोंका उच्चारण किये जानेपर भी राम इस प्रकार उत्तर देते हैं कि—

नाथ संभु धनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥
आयसु काह कहिअ किन मोही।
कहिअ बेगि जेहि बिधि रिसि जाई। मुनि नायक सोइ करौं उपाई॥

यह जानते हुए भी कि परशुराम जो कुछ बोल रहे हैं, अनुचित एवं बिना विचारे क्रोधान्ध होकर बोल रहे हैं, फिर भी उनके ब्राह्मणरूप एवं मुनिवेशके कारण एकाएक कोई भी उनपर रुष्ट नहीं होता। लक्ष्मण जितनी चुटकियाँ भरते हैं, उनमें उन्होंने सर्वत्र 'गोसाईं' 'देव' 'मुनि' 'मुनिराज' आदि आदरसूचक शब्दोंका प्रयोग किया है। साथ ही वे यह भी कहते जाते हैं—

मारतहूँ पा परिअ तुम्हारें।

१५. अभिरुचिके लिये आज्ञा लेनेकी विधि

विश्वामित्रके आश्रममें निवास करते हुए राम-लक्ष्मण एक दिन नगरकी शोभा देखना चाहते हैं। वे स्वेच्छाचारी नहीं हैं। प्रत्येक कार्यके लिये गुरुजीकी आज्ञा लेना अनिवार्य समझते हैं। नगरकी शोभा देखने जानेसे पूर्व वे बड़े संकोचपूर्वक गुरुजीकी शरणमें जाते हैं। राम, क्योंकि बड़े हैं, इसलिये यह नहीं कह सकते कि मैं शोभा देखना चाहता हूँ। अनुज लक्ष्मणकी ओरसे इच्छा प्रकट करते हुए वैसा करनेकी आज्ञा चाहते हैं—

परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥
नाथ लखनु पुर देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥

यहाँ दो-तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। राम गुरुकुलवासके नियमोंसे परिचित हैं। वे जब गुरुजीसे बात करते

हैं, तब कितने विनीत भावसे खड़े होते हैं। बड़ोंसे कुछ पूछते समय संकोच एवं मुखपर मुस्कान रखना समझदार छात्रोंका लक्षण है। कहीं दूर जानेके लिये गुरुकी आज्ञा प्राप्त कर लेना अनुशासन-पालनके अन्तर्गत आता है। साथ ही यह भी बता देना कि कहाँ जा रहे हैं तथा शीघ्र ही वापस लौटनेका आश्वासन देना सुयोग्य विद्यार्थियों एवं गुरुकुलवासियोंके ही लक्षण हैं।

इस प्रकार श्रीरामचरितमानसका किसी भी दृष्टिसे मनोयोगपूर्वक पारायण किया जाय तो सैकड़ों-हजारों अनुकरणीय बातें मिलेंगी। विद्यार्थी भी यदि एक मात्र 'मानस'का ही इस भावनासे अध्ययन करें कि भावी जीवनमें वे एक सुसभ्य, सदाचारी, नीतिनिपुण एवं आकर्षक व्यक्तित्वके नागरिक बनना चाहते हैं तो उन्हें अन्य सहस्रों पुस्तकोंके पढ़नेमें लगनेवाले समय एवं शक्तिको बचाना चाहिये।

हम सुखी कैसे हों ?

(लेखक—श्रीरमानाथजी खैरा, एडवोकेट)

प्रत्येक मनुष्यके मनमें यह प्रश्न उठता है कि हम सुखी कैसे हों। पर हमने कभी विचार भी किया है कि सुखका स्वरूप क्या है ? हम कथित दुःखकी स्थितिमें भी सुख देख सकते हैं और सर्वसाधनसम्पन्न सुखमय स्थितिमें भी दुःखका अनुभव कर सकते हैं। क्या गृहविहीन मजदूरको रोज मजदूरीसे पेट पालते हुए बड़े नगरोंकी फुटपाथपर पड़े मस्तीमें राग गाते हुए हमने नहीं देखा ? और भव्य महलोंमें रहनेवाले समृद्धिशाली धनी लोगोंके पीले चेहरोंपर क्या हमने चिन्ता और उदासीकी छाया नहीं देखी ? सांसारिक दुःखोंके अभावमें भी मनुष्य दुखी पाये जाते हैं और सांसारिक सुखोंके अभावमें भी अनेक सुखी हैं; इस कारण प्रकाश या दिन नहीं तो अँधेरा या रात होगी इस न्यायसे यह नहीं कहा जा सकता कि सुख नहीं तो दुःख है ही अथवा दुःख नहीं तो सुख ही है। अतः सुख और दुःख दो भिन्न-भिन्न वेदनाओंके रूपमें हमें दिखायी पड़ते हैं। कभी-कभी बिना पूर्व इच्छाके हमें अचानक हमारी इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाली वस्तु या दृश्य प्राप्त हो जाता है, जिसमें हमें सुख होता है, यद्यपि उसके अभावमें हमें पहले दुःख न था।

मनुष्य इच्छाओं और कामनाओंकी मूर्ति है। इच्छाओंकी पूर्ति अग्निमें आहुतिका काम करती है। महाभारतमें कहा गया है—

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम्।

जब कोई तृष्णा उत्पन्न होती है, तब उसकी पीड़ासे दुःख होता है और उससे पूर्ति होनेपर फिर सुख उत्पन्न होता है। अर्थात् दुःख उत्पन्न होना और उसके निवारणमें सुखकी प्राप्ति होना। यदि पीड़ा उपजानेवाली इन इच्छाओंको जीवन-निर्वाहके क्षेत्रमें ही सीमित रक्खा जाय तो दुःखके एक बड़े भागसे हमें छुटकारा मिल सकता है। शरीरजन्य इच्छाओंकी साधारण पूर्ति एक संतोषी श्रमजीवीको सुखी बना देती है, पर ये ही इच्छाएँ जब विशाल तृष्णाओं या वासनाओंका रूप लेकर महलोंमें पड़े उस धनी व्यक्तिका मस्तिष्क कुरेदने लगती हैं, तब वह उस श्रमजीवीके मुकाबलेमें अत्यधिक सुखसम्पन्न स्थितिमें होते हुए भी अत्यन्त दुखी रहता है।

हमारी आजकी विलासपूर्ण जीवनकी वस्तुएँ कलकी आवश्यकताएँ बन जाती हैं और पिछले कालके आराम-तलब जीवनकी भोग-विलासकी चीजें आजकी आवश्यकताएँ बन गयी हैं। ये ही आवश्यकताएँ मनुष्यमें उनकी पूर्तिके लिये तीव्र इच्छाएँ जाग्रत् करती हैं। इनकी विफलताएँ उतनी ही तीव्र वेदना धरोहरमें हमें छोड़ जाती हैं। उनकी सफलताओंमें हमारा मन क्षणिक सुख मानकर विजयके अभिमानमें पहलेसे अधिक बलवती इच्छाओंको लेकर किसी अन्य सुखकी खोजमें दौड़ पड़ता है और

जब हम इन इच्छाओंपर विचार करने बैठते हैं, तब उन्हें अनन्त और अमर्यादित पाते हैं। हम यह जानते हैं कि हमारी प्रत्येक इच्छा या अभिलाषा सफल नहीं हो सकती; फिर भी हम उन्हें हृदयमें सँजोये बैठे चिन्तन किया करते हैं। जर्मन विचारक शोपेनहरका मत है कि मनुष्यकी समस्त सुखेच्छाओंमेंसे जितनी सुखेच्छाएँ सफल होती हैं, उसी परिमाणमें हम उसे सुखी समझते हैं और जब सुखेच्छाओंकी अपेक्षा सुखोपभोग कम हो जाता है, तब मनुष्य उस परिमाणमें दुखी है।

जब हम दुःखोंपर विचार करते हैं, तब उन्हें दो प्रकारका पाते हैं—शारीरिक दुःख और दूसरा मानसिक दुःख। शारीरिक दुःखोंका सम्बन्ध शरीरसे है और मानसिक दुःख हमारे मनसे सम्बन्ध रखते हैं। भूख, प्यास, चोट, बीमारी, शीत, उष्ण आदि हमें शारीरिक कष्ट पहुँचाते हैं। स्त्री, पुत्र या प्रियजनोंका वियोग, धन, अधिकार, मान, बड़ाई आदिका अभाव हमें मानसिक वेदना देते हैं; किंतु गहराईसे विचार किया जाय तो शारीरिक दुःख भी मानसिक दुःख हो जाते हैं; क्योंकि दुःख-सुखोंका अनुभव हमें तब होता है, जब हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा बाह्य जगत्‌के सम्पर्कमें आती हैं। हमारी इन्द्रियाँ भी अपने विषयोंका ज्ञान या भोग तबतक नहीं कर पातीं जबतक उनके साथ मन न जुड़ा हो। हमारा ध्यान कहीं और हो तो हमारे कान काम नहीं देते; किसीसे बातोंमें हमारा ध्यान लगा हो तो आँखोंके सामने क्या गुजर गया, हमें ज्ञात नहीं होता। महाभारत, शान्ति-पर्वमें कहा है—

चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा।

अर्थात् देखनेका काम केवल आँखसे होता है, किंतु उसमें मनकी सहायता होती है। अतः शारीरिक सुखों या दुःखोंकी वेदना भी अन्तमें मनको ही होती है। वास्तवमें मन ही दुःख-सुखके बार झेलता है। जब सुख-दुःखके लिये इन्द्रियोंका अवलम्बन अनावश्यक है, तभी शास्त्रकार कहते हैं—

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
(महाभा० शा० मोक्ष० १। १९)

अर्थात् मनसे चिन्तन न करना ही दुःख-निवारणकी अचूक दवा है। महर्षि मनुका भी विशेष ध्यान सुख-दुःखोंके आन्तरिक अनुभवपर ही है। अस्तु, यदि मनपर शासन नहीं होता और उसे छुट्टा घूमने दिया जाता है तो हमारी इच्छाओंका और इसलिये हमारे दुःखोंका अन्त नहीं है। हमारा जीवन अशान्तिमय बन जाता है। हमारा मन केवल इन्द्रियोंद्वारा विषयोपभोग चाहता है, हम बार-बार उपलब्ध सुखको भोगते हुए भी तृप्त नहीं होते। विटेरियस नामका एक रोमन बादशाह स्वादिष्ट भोजनका आनन्द निरन्तर जिह्वासे लेनेके लिये बार-बार खाकर तृप्त होनेपर ओषधि लेकर वमन करता था और फिर भूखा होकर पुनः भोजन लेकर जिह्वाका आनन्द लिया करता था। एक पौराणिक कथा है कि राजा ययाति शुक्राचार्यके शापसे वृद्ध हो गये थे, किंतु उन्हींकी कृपासे जब उसे दूसरेकी जवानी लेनेकी सुविधा मिल गयी तब उनने अपने बेटे पूरुकी तरुणावस्था माँगी और पूरे हजार वर्षतक सब प्रकारके विषय-सुखोंका उपभोग किया। अन्तमें उन्हें यही अनुभव हुआ कि इस दुनियाके सारे पदार्थ एक मनुष्यकी सुख-वासनाको तृप्त करनेके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं। राजा मान्धाताने भी मरते समय यही कहा था और तृष्णाके इसी भयानक रूपको देखकर आदिगुरु शंकराचार्य, बौद्धग्रन्थ धम्मपद तथा जैनधर्मशास्त्र तृष्णासे मुक्ति पानेका उपदेश दे रहे हैं, जो इनके मतोंके मूलभूत आधारों-मेंसे एक है।

पर प्रश्न उठता है कि क्या सब प्रकारकी इच्छाओं या तृष्णाओंसे मुक्ति पायी जाय। यदि जलमें डूबकर

लोग मर जाते हैं तो क्या उसका पीना या उसमें नहाना बंद कर दिया जाय ? अग्निसे मकान जलते देखकर उसपर खाना पकाना बंद किया जाय ? यह निर्णय हो चुका है कि कुछ आवश्यक स्वाभाविक इच्छाएँ हैं, जो शरीरजन्य और प्राकृतिक हैं। हमारे लिये शरीरनिर्वाहके हेतु कर्म करना आवश्यक है और कोई भी कर्म हमारी इच्छाका वाह्यस्वरूप ही हुआ करता है अर्थात् कर्म करनेके पूर्व मनमें उसकी इच्छा होती है। इससे इन इच्छाओंका होना उचित और आवश्यक है। ऐसी इच्छाओंको दबाकर संतोष करना उचित नहीं ठहराया जा सकता। परोपकार, विद्याध्ययन, ज्ञानप्राप्ति, जनसेवा या राष्ट्रसेवा आदि लोकसंग्रहके कर्म करनेका औचित्य शास्त्रोंने मनुष्यकी जीवन्मुक्त अवस्थामें भी बताया है। अतः ऐसे कर्मोंसे सम्बन्धित इच्छाएँ या तृष्णाएँ उत्तम ही कही जायँगी। व्यासजीने युधिष्ठिरसे कहा था—'विद्या, उद्योग और ऐश्वर्यके विषयमें असंतोष रहना अच्छा है; पर असंतोषका यह अर्थ नहीं है कि किसी वस्तु या पदको पानेके लिये हम रात-दिन हाय-हाय करते फिरें। यह स्थिति शास्त्रकारोंद्वारा निन्दनीय मानी गयी है। किंतु उसका अर्थ लोकमान्य तिलकके शब्दोंमें यह भी नहीं है कि तुम वर्तमान स्थितिमें ही पड़े सड़ते रहो और उसके सुधारके लिये शान्तचित्त कर्तव्यबुद्धिसे फलेच्छाको त्यागते हुए कर्म भी न करो। अपितु ऐसी स्थितिमें महाभारतमें कहा गया है—'असंतोषः श्रियो मूलम्'—अर्थात् असंतोष ही ऐश्वर्यका मूल है। पर साथ ही यह बात अपनी जगह सही है कि हम जितने अधिक सुखी बनना चाहते हैं, उतना ही अधिक हमें इच्छाओंका चिन्तन मनसे हटाना होगा; क्योंकि इच्छाएँ दुःखकी जननी हैं। वे मानवका स्वाभिमान हरण कर दर-दर भटकाती हैं, उनका असफल होना मनुष्यको रुलाता है और जब यह असंतोष सीमा पार कर जाता है, तब वे अपराध और विद्रोह कराती हैं।

समाजमें या किसी राष्ट्रमें शान्ति और सुरक्षाकी स्थापनाके लिये यह आवश्यक है कि जन-जीवनकी इन प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्ति हो। यदि उसकी इन स्वाभाविक इच्छाओंकी पूर्ति नहीं होती तो उसका हृदय विद्रोहकी ज्वालाओंसे जल उठता है, जिसकी लाल लपटें राज्यसिंहासनको भी भस्मीभूत कर देती हैं। कभी-कभी उसकी इस दयनीय स्थितिके कारण वे लोग होते हैं, जो स्वार्थवश अपने साधनोंद्वारा उसका शोषण करते हैं और वह सोचता है कि इस शोषकवर्गके समाप्त होनेपर ही उसे आर्थिक और सामाजिक न्याय मिल सकता है, जिससे उसे चिर शान्ति और सुख प्राप्त होगा। मार्क्सने यही तो सोचा था; क्योंकि उनका हृदय आर्थिक कष्टोंसे उत्पीड़ित मानवताको देखकर सिहर उठा था और इन्हीं कारणोंसे वर्तमान पाश्चात्त्य साम्यवाद या समाजवादके सिद्धान्त जगत्के सामने आये।

निस्संदेह शान्ति सुखकी जननी है, अशान्ति और असंतोष दुःखके स्वरूप हैं। मानव-समाजमें शान्ति स्थापित करनेके लिये आवश्यक है कि जीवनके लिये अनिवार्य वस्तुओंके उत्पादन-स्रोत समानरूपसे सबके लिये खुले हों, प्रत्येक व्यक्तिको समान रूपसे जीवनयापनकी सुविधाएँ और साधन उपलब्ध हों, शोषक और शोषितका वर्गभेद न रहे। निर्धन श्रमजीवीके लिये उत्पादनके आवश्यक उपकरण और साधन जुटानेकी व्यवस्था हो तथा उसे अपने श्रमद्वारा उत्पादन किये मालका उचित लाभ प्राप्त हो और साथ ही उसकी व्यक्तिगत, धार्मिक, सामाजिक और विचार प्रकट करनेकी स्वतन्त्रता सुरक्षित हो—ऐसा ही कोई वाद राज्य या समाज अथवा व्यक्तिके लिये कल्याणकारी हो सकता है। राज्यकी यह शासनप्रणाली उस प्रणालीसे उत्तम होगी, जहाँ किसी वर्गविशेषके हाथमें, भले ही वह श्रमजीवी वर्ग हो, शासनसत्ता सौंप दी जाय; क्योंकि कालान्तरमें वह वर्ग अधिनायकवाद (डिक्टेटरशिप)

को जन्म न देगा, इसकी क्या गारंटी हो सकती है। कोई वर्ग या समाज व्यक्तियोंसे बनता है और व्यक्तियोंकी स्वार्थ तथा विषय-सम्बन्धी दुर्बलताओंको उस स्थितिमें, जब कि सत्ता भी उसके हाथमें हो, केवल उसके नैतिक गुण दूर किये रहते हैं। इन नैतिक गुणोंको भौतिकवादी दर्शन प्रतिष्ठित नहीं कर सकेगा, भले ही कुछ कालके लिये कुछ व्यक्तियोंमें वे रहें। पर सत्य, अहिंसा, दया, त्याग, परोपकार, बलिदान आदिकी मानवीय उच्चवृत्तियोंको पोषित होनेकी पृष्ठभूमि जडवादी विज्ञानमें कभी सम्भव नहीं है।

भौतिकवादी दर्शन इस निर्णयपर पहुँचता है कि व्यक्ति जड पदार्थकी भाँति दी हुई परिस्थितियोंमें एक नियत एवं निश्चित आचरण करेगा। यही उसका उत्तर भी हो सकता है कि 'जब व्यक्तिको सम्पूर्ण आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त होंगी, तब वह स्वार्थके लिये डिक्टेटर नहीं बनेगा तथा विधानका कठोर बन्धन उसे ऐसा करनेसे रोकेगा।' किंतु क्या सत्तारूढ़ दल प्रमादी, आलसी, मुफ्तखोर, विलासी और व्यभिचारी नहीं बन सकता। यदि हाँ, तो क्या वह अपने साम्यवादी या समाजवादी ढाँचेको राज्यसत्ताकी शक्तिके सहारे अधिनायकवाद क्या, सामन्तशाहीमें बदलकर विधानको ताकमें नहीं रख सकता।

हमें समाजके हितमें मनुष्यके मानवीय गुणोंका मूल्याङ्कन करना होगा। उसके नैतिक गुणोंकी प्राप्ति तथा पोषणके लिये आध्यात्मिक भूमिका अपनानी होगी, मानवताको भौतिक उपलब्धियोंके हाथ नहीं बेचना होगा। उत्तम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये हमें उत्तम साधन अपनाने होंगे।

भौतिकवादी दर्शनपर अवलम्बित साम्यवादके लिये अच्छे-बुरे सभी साधन मान्य हैं—मान्य ही नहीं, अपितु चीनदेश तो हिंसा, युद्ध, रक्तपातको लक्ष्यकी पूर्तिके लिये अनिवार्य समझता है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन, साधनमें ही साध्यका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। उत्तम साधनोंका प्रयोग वास्तवमें राष्ट्रका चरित्रनिर्माण करता है, जो जनतान्त्रिक प्रणालीका एक टिकाऊ स्तम्भ है। गांधीजीने पिछले महायुद्धके प्रारम्भिक दौरमें, जब पोलैंडके पतनसे ब्रिटिश सरकार भयभीत होने लगी थी, तब उन्होंने ब्रिटिश शासकोंके प्रति यह उद्गार प्रकट किये थे कि 'यदि शासकवर्गके रक्तकी एक भी बूँद बहानेपर हमें स्वराज्य मिलता है, तो ऐसा स्वराज्य हम नहीं चाहेंगे।' यह है अध्यात्मवाद, जो भौतिकवादी दुनियाके अन्धकारपूर्ण आकाशमें एक सितारेकी भाँति चमक रहा है। पर हमें मुख्य विषयपर आना चाहिये।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्वाभाविक इच्छाएँ जीवननिर्वाहके लिये आवश्यक हैं। इन स्वाभाविक इच्छाओंके अतिरिक्त, दूसरे वर्गको इच्छाएँ वे हैं, जिन्हें हम व्यसन और विषयजन्य इच्छाएँ कह सकते हैं। व्यसन लग जानेसे भी इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं और वे इतनी तीव्र होती हैं कि कभी-कभी स्वाभाविक इच्छाओंको भी दबा बैठती हैं। उदाहरणार्थ—एक अफीमची भोजनकी अपेक्षा अफीमकी अधिक चिन्ता करने लगता है। इन इच्छाओंकी पूर्ति मनुष्यको लाभकी अपेक्षा हानि ही पहुँचाती है। इनके संकेतपर सृष्टिकी सर्वश्रेष्ठ कृति यह मानव कठपुतलीकी भाँति नाचता रहता है। मादक वस्तुओंके सेवनके अतिरिक्त आँख, कान, नाक, जिह्वा आदि इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाले क्रमशः रूप, स्वर-गान, सुगन्ध, स्वाद आदिमें अनुरक्ति इस प्रकारकी इच्छाओंको जन्म देती हैं।

शरीरको किसी परिस्थितिमें लाभ पहुँचानेके लिये यदा-कदा वैद्य या डाक्टर मादक वस्तुके सेवनकी अनुमति औषधिके रूपमें दे तो उतनी आपत्ति नहीं है। मनको कभी-कभी बहलानेके लिये हम बाग या प्राकृतिक दृश्योंकी सैर करें या सिनेमा, नाटकीय कलाओं, संगीतद्वारा मन प्रसन्न कर लें, तो हानिकी बात नहीं; पर

जब इनका आनन्द व्यसनके रूपमें बारंबार निरन्तर इच्छाएँ उत्पन्न करने लगे, तब निश्चय ही ये सर्वथा त्याज्य हैं; क्योंकि राग ही बन्धन या दासताका कारण है। द्वन्द्वात्मक जगत्‌में रागके साथ द्वेष रहता है, अतएव भगवान्‌ने गीतामें राग-द्वेष दोनोंकी ही निन्दा—भर्त्सना की है और दोनोंके ही वशमें न होनेका आदेश दिया है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता ३। ३४)

यही नहीं, इन रागजनित कामनाओंका या इच्छाओंका भयानक रूप हमें विलासिताकी ओर खींचता चला जाता है—जहाँ हमारा विवेक कुण्ठित—नष्ट हो जाता है। मानव असहाय होकर अपना अमूल्य जीवन इन रागात्मिका रँगीली इच्छाओंके हाथ बेच डालता है और हम चिन्ताओं, दुःखों और वेदनाओंके गर्तमें समा जाते हैं।

इन पंक्तियोंके लेखकको सन् १९४१ में असहयोग आन्दोलनमें जब कारागारमें रहनेका सुअवसर प्राप्त हुआ, तब उसने बीड़ी-तम्बाकूके आदी कैदियोंके उस मानसिक कष्टको देखा, जो उन चीजोंके उपलब्ध न होनेपर उन्हें होता था। कोई-कोई कैदी अपना दिनका भोजन और सेत्राएँ एक बीड़ीके बदलेमें बेच देता था। आज भी पेटभर मजदूरी और तन ढकनेको कपड़ेतक न मिल पानेकी दशामें भी क्या मजदूरों या रिक्सावालोंको आपने नित्य सिनेमा देखने जाते हुए नहीं देखा है ?

जीवन-निर्वाहके लिये इन इच्छाओंकी पूर्ति अनावश्यक होते हुए भी भ्रमवश हमें इनमें जीवनका आनन्द दिखायी देता है। मादक वस्तुओंको छोड़कर, जो प्रारम्भमें बुरी लगती हैं, शेष विषय शुरूमें ही इन्द्रियोंको आकर्षित करनेकी क्षमता रखते हैं और जब उनकी पुनरावृत्ति होने लगती है, वह हमारा 'व्यसन' बन जाता है। इन इच्छाओं, कामनाओं या वासनाओंकी पूर्तिके समय ही सुखका आभास होता है; पर यह सुख भुला दिया जाता है और यह नहीं कि हम केवल उन्हीं भोगे हुए सुखोंको पुनः चाहें, जैसा कि स्वाभाविक इच्छाओंमें रहता है, वरं हम नित्य नये-नये सुखकी खोजमें लगे रहते हैं। साइकिल प्राप्त करनेकी इच्छा पूरी होनेपर उसपर बैठनेका प्रारम्भिक आनन्द कुछ दिनोंमें समाप्त हो जाता है और हम मोटरकारका स्वप्न देखने लगते हैं। एक भोग दूसरे नये-नये भोगोंके लिये हमें रात-दिन भटकाता रहता है। हजारपति काञ्चनके चक्करमें पड़कर लखपति और लखपति करोड़ाधीश बनना चाहता है और वह प्राप्त सुखोंको भूलकर नये सुखोंकी खोजमें दुखी रहता है। मनुष्यने अपने साधनसम्पन्न सुखमय जीवनपर बरबस इन इच्छाओंको लादकर अपना जीवन अशान्तिमय बना लिया है। किसीने ठीक कहा है कि मनुष्यके वर्तमान समयके सुख-दुःखोंका विचार उन सुखसाधनोंके आधारपर नहीं किया जाता, जो उसे प्राप्त हैं, किंतु यह विचार मनुष्य इस आधारपर करता है कि उसकी वर्तमान आवश्यकताएँ क्या हैं और जब इस दृष्टिकोणसे वह सोचता है तो अपनेको सदा अभावग्रस्त पाकर दुखी होता है। प्राप्तिकी सुखछाया आवश्यकताओं और इच्छाओंके प्रकाशमें विलीन हो जाती है। तब क्या यह सत्य नहीं है कि वस्तुतः दुःखके कारण बहुत सीमातक हम स्वयं ही हैं। महर्षि मनुने कहा है—'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।' अर्थात् जो दूसरोंकी (बाह्य वस्तुओं) की अधीनतामें है, वह सब दुःख है और जो अपने अधिकारमें है, वह सुख है। एक अंग्रेज विद्वान् स्माइल्सने अपनी पुस्तक 'सेल्फ-हेल्प'में कहा है कि जो मनके गुलाम हो गये हैं, उन्हें किसी भी राज्यशासनप्रणालीका परिवर्तन सुखी, स्वतन्त्र नहीं कर सकता। अतः दुःख-निवारण तथा सुखकी प्राप्तिके लिये हमें व्यसन एवं विषयजन्य इच्छाओंका उन्मूलन करना होगा और स्वाभाविक इच्छाओंकी पूर्तिके लिये विना उन इच्छाओंका

निरन्तर चिन्तन किये निषिद्ध कर्मोंको छोड़कर आवश्यक वैध कर्म करने होंगे तथा इन कर्मोंके करते हुए भी फलकी चिन्ता छोड़नी होगी । यही तो गीताका उपदेश है ।

यथाशक्ति उद्योग करके भी यदि हम अपने प्रयासमें असफल हो जायँ और हमारी इच्छाओंकी पूर्ति न हो, केवल तभी हम प्रारब्धका आश्रय लें और अपनी असफलताएँ प्रारब्ध या ईश्वर-इच्छाको सौंपकर दुःख तथा निराशाओंसे छुटकारा पाकर खिलाड़ीकी भावनासे मुस्कराते हुए जीवनका आनन्द लें । असफल किंतु पुरुषार्थी व्यक्तिके मनकी इस मुस्कानपर संसारके सम्पूर्ण वैभव निछावर होते हैं; क्योंकि सफलताएँ या कामनाओंकी पूर्ति आखिर मनुष्यको दे क्या जाती हैं ? मनकी प्रसन्नता ही तो । निराशाएँ और विफलताएँ जब उसके मनपर अपना प्रभाव डालनेमें असफल हो गयी हैं, तब संसारमें उसकी परीक्षा लेने सफलताओंके अतिरिक्त कौन रह गया है ? इन सफलताओंमें दुःख, विषाद देनेकी क्षमता स्वभावसे ही नहीं है, वे केवल उसके मनको हर्ष-आह्लादमें उन्मत्त कर सकती हैं; पर उसकी समत्वबुद्धि उसे ऐसा करनेसे भी रोक देती है । ऐसा है यह 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।' स्थितप्रज्ञ पुरुष, जो नित्य परम सुखको प्राप्त होता है, और ऐसे ही व्यक्तियोंसे एक सुन्दर सुखी समाजका निर्माण हो सकेगा ।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-महोत्सव

(लेखक—श्रीरामचन्द्र कृष्ण प्रभु)

(राष्ट्रीय एकताके हितमें इस हिंदू-महोत्सवको एकदेशव्यापी सप्ताहावधि सांस्कृतिक उत्सवका रूप देनेकी योजना)

देशभरकी समस्त हिंदू-जनता भगवान् श्रीकृष्णको परमेश्वरका आठवाँ अवतार मानती है । किंतु आदरणीय शिशु, क्रीड़ाप्रिय एवं निर्भीक गोप-बालक, वंशीवादक, नटवर, मल्ल, योद्धा, राजनीतिज्ञ, अद्वितीय दार्शनिक, धर्मगोप्ता, दीनबन्धु, आर्त-रक्षक, दुष्ट-दलन, शान्तिदूत, दिव्य प्रेमके मूर्तिमान् विग्रह, गीतावक्ता, मानवमात्रके उद्धारक और भगवदवतारके रूपोंमें जिनकी लीलाओंने विगत दो हजार वर्षोंसे अधिक कालतक एवं आज भी करोड़ों भारतवासियोंको मन्त्र-मुग्ध कर रखा है, उन्हींके जन्मदिन जन्माष्टमीका पर्व मनानेकी दृष्टिसे एक सप्ताहस्थायी देशव्यापी कार्यक्रम नीचे दिया जा रहा है । यह कार्यक्रम इस दृष्टिसे बनाया गया है कि इन अद्वितीय महापुरुषके भक्त और उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखनेवाले भारतके लोग प्रत्येक नगर एवं ग्राममें इस उत्सवको मनानेकी पहलेसे तैयारी कर सकें । इस वर्ष जन्माष्टमी अगस्तकी २७-२८ तारीखको पड़ रही है । प्रत्येक स्थानके लोग अपने साधनोंके अनुसार इस कार्यक्रमको पूरा-पूरा या इसका जितना अंश सफलता-पूर्वक किया जा सके उतना निर्धारित कर लें । प्रभात-फेरियों तथा अन्य शोभा-यात्राओंके लिये उचित यह होगा कि उनको जहाँसे प्रारम्भ किया जाय, वहीं समाप्त किया जाय । अवान्तर फेरियाँ और यात्राएँ दोनों ओरकी गलियोंसे निकलकर मुख्य शोभायात्रामें चौराहोंपर आकर मिल जायँ ।

कार्यक्रमकी रूप-रेखा

भाद्रपद कृष्ण ६, तदनुसार अगस्त २६

प्रातःकाल ८ बजेसे १० बजेतक गीत गाते हुए पुरुषोंद्वारा प्रभात फेरी । इन गीतोंमें अगले दिन भगवान्‌का

जन्मोत्सव मनानेकी तैयारीके लिये लोगोंमें प्रेरणा हो। भगवान्‌के बालकृष्ण, गोपालकृष्ण, वेणुगोपाल, नवनीत-चोर, कालियदमन, गोवर्द्धनधारी आदि रूपोंमें उनकी लीलाओंका वर्णन हो तथा संगीतज्ञ, नृत्यकार, मल्ल, योद्धा, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, उद्धारक तथा भगवदवतारके रूपमें उनका यशोगान हो।

सायंकाल ६–३० से ७–३० बजेतक श्रीकृष्णके नाम एवं उनकी लीलाओंका गान करते हुए महिलाओं (अधिकांश बालिकाओं) द्वारा फेरी।

भाद्रपद कृष्ण ७, तदनुसार अगस्त २७।

प्रातःकाल ८ बजेसे ११ बजेतक प्रभातफेरी, जिसमें अधिकांश पुरुष रहें। बहुत-से लड़के गोप-बालकोंके वेशमें रहें। उनके हाथोंमें बाँसुरी तथा रंगीन डंडे रहें और वे श्रीकृष्णके जन्म एवं बाल-लीला-सम्बन्धी पद गाते चलें। साथमें गायों, बछड़ों और साँड़ोंका भी एक जुलूस रहे। उनके गलेमें घंटियाँ बँधी रहें। नगर और ग्रामके प्रत्येक परिवारसे यह प्रार्थना की जाय कि वे अपने घरके पशुओंको पेटभर खिलाकर उनके बछड़ोंको पेटभर उनकी माताओंका दूध पिलाकर बच्चोंसे गायोंकी आरती उतरवाकर अपने नौकर अथवा किसी दूसरेके साथ उन्हें जुलूसमें सम्मिलित होनेके लिये भेजें। जब शोभायात्रा गन्तव्य स्थलपर पहुँच जाय, तब गायोंको समीपवर्ती मैदानमें विश्राम करनेके लिये छोड़ देना चाहिये। वहाँ उनको प्रचुर मात्रामें हरी घास और दाना खिलाना चाहिये और नादोंमें पीनेके लिये पर्याप्त पानीकी व्यवस्था करनी चाहिये।

अपराह्ण ३ से सायं ६ बजेतक—

सजाये हुए खंभों या बाँसोंके चारों ओर श्रीकृष्ण-लीलाओंसे सम्बन्धित लोकगीत और लोकनृत्यका तथा 'कोल्हर' नृत्योंका भी लड़कों एवं लड़कियोंद्वारा पृथक्-पृथक् आयोजन किया जाय।

रात्रिमें ८ से ११ बजे तक—

श्रीकृष्णकी एक धातु या मिट्टीकी प्रतिमा स्थापित करके अथवा उनका एक बड़े आकारका चित्रपट रखकर उसके सामने बालक-बालिकाएँ कीर्तन करें (जहाँ सम्भव हो, वहाँ कीर्तनमें नृत्यको भी स्थान दिया जाय)। ये बालक-बालिकाएँ नारद, मीराबाई, कबीर, सूरदास, चैतन्य, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, पुरंदरदास, कनकदास, जयदेव (गीतगोविन्दकार), नरसी मेहता, लीलाशुक, शंकराचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, शंकरदेव (असमवाले), त्यागराज आदिके वेष धारण किये रहें।

रात्रिके ११–१५ से १–३० (या भोरमें २) बजेतक—

बड़ी आयुके नर-नारियोंद्वारा एवं गायक-गायिकाओं-द्वारा वाद्योंके साथ कीर्तन। जहाँ श्रीकृष्णजन्मकी झाँकी सजायी जाती हो वहाँ वैसा किया जाय तथा उक्त प्रसङ्ग-के पदगान एवं कथा हो।

जन्माष्टमी, तदनुसार अगस्त २८।

प्रातःकाल ८ से ११ तक भक्तिपरक पद गाते हुए पुरुषोंद्वारा प्रभात-फेरी। ये लोग लेजिमका प्रदर्शन करते, संगीतके साथ-साथ लोक-नृत्य दिखाते, दहीके मटके फोड़ते तथा बाँसके बने हुए खिलौनेके पिस्तौल-द्वारा विरोधी दलोंपर एवं अन्य लक्ष्योंपर आक्रमण न करते, बाण चलाते, मुगदर भाँजते, लाठी एवं तलवार घुमाते तथा इसी प्रकारके अन्य साहस एवं कौशलके करतब दिखाते हुए चलें। जहाँ जन्माष्टमी सप्तमीको मनायी जाय, वहाँ दूसरे दिन प्रातः नन्द-महोत्सव (दधिकाँदो) मनाया जा सकता है।

सायंकाल ३ से ६ बजेतक—

मल्लयुद्ध तथा व्यायाम-सम्बन्धी अन्य प्रतियोगिताएँ, मलखाम बाँसके सहारे कूदना, तेल-चुपड़े खंभोंपर चढ़ना इत्यादि।

रात्रिके ८ से १० बजेतक—

श्रीकृष्णके वेषमें सोलह लड़कियों तथा गोपियोंके

वेषमें सोलह अन्य लड़कियोंद्वारा अनुकूल गायन-वादनके साथ रासलीला । लीला करनेके लिये एक-से अधिक मण्डलियोंको बुलाया जा सकता है और सर्वश्रेष्ठ मण्डलीको पुरस्कारद्वारा सम्मानित किया जा सकता है ।

रात्रिमें १०-३० बजेसे लेकर १ बजेतक—

प्रौढ़ वयके कीर्तनकारों तथा अन्यजनोंद्वारा कीर्तन तथा श्रीकृष्ण-जन्मकी झाँकी ।

भाद्रपद कृष्ण ९, तदनुसार अगस्त २९ ।

प्रातःकाल ९ से ११ बजेतक—शिशु-प्रदर्शनी, १५ वर्षसे कम अवस्थाके बालक-बालिकाओंद्वारा बालकृष्ण, गोपालकृष्ण, वेणुगोपाल, कालियदमन, गोवर्धनधारी, गोप, गोपी, राधा, रुक्मिणी, सत्यभामा, कुब्जा, यशोदा, देवकी, वसुदेव, कंस, चाणूर, मुष्टिक, कुचेल (सुदामा), नारद, मीराबाई, राधाकृष्ण, यशोदाकृष्ण, देवकीकृष्ण, कृष्णार्जुन आदि वेषोंमें वेष-प्रतियोगिता । नन्द-महोत्सव ।

सायंकाल ४ से ६ बजेतक—श्रीकृष्णलीलाओंपर हरिकथा-कालक्षेप ।

रात्रिमें ९ से १२ बजेतक—भरतनाट्य, कथकली, मणिपुरी, यक्षगान अथवा कत्थक-पद्धतिसे श्रीकृष्ण-लीलाके किसी प्रसङ्गका नृत्यप्रधान नाटकद्वारा निरूपण ।

भाद्रपद कृष्ण १०, तदनुसार अगस्त ३० ।

सायंकाल ४ से ६ बजेतक—श्रीकृष्णलीलाओंका मूक एवं अचल प्रदर्शन, शास्त्रीय नृत्य एवं संगीत ।

रात्रिमें ८ से १० बजेतक—श्रीकृष्णलीलाके यशोदा-कृष्ण, कालियमर्दन, कंसवध, गोवर्द्धन-धारण, चाणूर-मुष्टिक-मर्दन, वेणुगोपाल, चक्रपाणि, रास-लीला, रुक्मिणीहरण, कुचेल (सुदामा) और कृष्ण, अर्जुन और कृष्ण (पार्थ-सारथि एवं गीतोपदेष्टा), कृष्ण एवं द्रौपदी-वस्त्रापहरण, कृष्ण एवं नारद, कृष्ण तथा मीराबाई, विश्वरूपदर्शन, शिशुपालवध, नरकासुरवध आदि प्रसङ्गों तथा रूपोंका निदर्शन करानेवाले प्रकाशयुक्त दृश्योंको लारियोंपर मन्दगतिसे मुख्य राज-पथोंपर घुमाना ।

भाद्रपद कृष्ण ११, तदनुसार अगस्त ३१ ।

प्रातःकाल ९ से १२ बजेतक—गीताधर्म और श्रीकृष्ण-चरित्रपर प्रवचन ।

अपराह्णमें २ से ३-३० तक—श्रीकृष्णकी ऐतिहासिकतापर प्रवचन ।

भाद्रपद कृ० १२, तदनुसार सितम्बर १ ।

प्रातःकाल ९ से ११ बजेतक—गोरक्षा, गो-संवर्द्धन, जीवदया, जीवमात्रके प्रति अवध्यताबुद्धि, निरामिष आहार आदि विषयोंपर भाषण ।

सायंकाल ४ से ६ बजेतक—गाय-बैलोंका मेला और पुरस्कार-वितरण ।

रात्रिमें ८ से ११-३० बजेतक—(श्रीकृष्ण-चरित्रके किसी प्रसङ्गका) अभिनय ।

प्रभात और सायंकालीन फेरियोंमें गाये जानेवाले गीत केवल प्रादेशिक भाषामें ही नहीं होंगे वरं स्थानीय जनताके विभिन्न वर्गोंद्वारा बोली जानेवाली अथवा उनकी समझमें आनेवाली भाषामें भी होंगे । इन वर्गोंके लोगोंसे कहा जाय कि ये लोग अपना पृथक्-पृथक् दल बनाकर अपनी भाषाके गीत गाते चलें । इसी प्रकार जन्माष्टमीकी रात्रिको नारद, मीराबाई, तुकाराम, पुरंदरदास, जयदेव, नरसी मेहता आदिके वेष सजनेवाले बालक-बालिकाओंको चाहिये कि इन संतोंने जिस भाषामें अपने पद लिखे हैं उन्हीं भाषाओंमें उनकी रचनाओंको गायें ।

धर्मके प्रति ये भ्रान्त धारणाएँ

(लेखक—श्रीनारायणदासजी 'वीर')

धर्म और विज्ञान

आज प्रायः यह कहा जाने लगा है कि ज्यों-ज्यों विज्ञानके चरण बढ़ते जायँगे, धर्मकी आस्थाएँ उतनी ही धूमिल होती जायँगी। पर यह विज्ञानके मदकी वाचालता मात्र है। यथार्थ सत्य तो यह है कि ज्यों-ज्यों आधुनिक विज्ञान विकसित होगा, सनातन-धर्मकी मान्यताएँ, आस्थाएँ तथा वास्तविकताएँ अधिकाधिक स्पष्ट हो सूर्यके समान प्रखर होती जायँगी।

सनातन-धर्ममें विज्ञान वस्त्रमें धागेकी तरह ओत-प्रोत है। साथ ही आजके विज्ञानसे उसमें एक विशेषता यह और है कि जहाँतक आजके विज्ञानकी गति है, उसकी परिसमाप्ति है, वहाँसे सनातन-धर्मके विज्ञानका प्रारम्भ होता है।

अभी कुछ समय पूर्व संजयद्वारा कुरुक्षेत्रकी घटनाओंके देखे जाने और सुनेजानेको कपोल-कल्पित कहा जाता था। परंतु रेडियो और टेलिविज़नके आविष्कारने उनकी सत्यता प्रमाणित कर दी।

रेडियो और टेलिविज़न किसी एक विशिष्ट स्थानसे यन्त्रके माध्यमसे एक यान्त्रिक माध्यमतक ध्वनि और दृश्यका प्रसारण करते हैं। प्रेषक और संग्राहक (Receiver) यन्त्रोंके अभावमें दृश्य और ध्वनिका प्रसारण नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि ये सब क्रिया-कलाप या वैज्ञानिक आविष्कार सीमित, संकुचित और एकदेशीय हैं, जब कि यहाँ आध्यात्मिक शक्तियोंको शरीरमें ही इतना विकसित किया गया कि जब भी आवश्यकता हुई सिद्ध पुरुषोंने कितने ही दूरस्थ स्थान या किसी भी व्यक्तिके सम्बन्धमें ज्यों-के-त्यों दृश्य देखे, बातें सुनीं और मनोभावोंतकको यथावत् जान लिया। तभी तो कहा गया—

'बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा।'

शास्त्रोंमें वर्णित विमानोंके तथ्य आजके वायुयानोंने तथा प्रथम पूज्य होनेके लिये समस्त देवताओंद्वारा पृथक्-पृथक् पृथ्वी-परिक्रमाकी सचाई आजके विज्ञानने सिद्ध की है। अभी चन्द्रलोक-यात्राकी योजनाएँ चल रही हैं; परंतु भारतमें तो लोक-लोकान्तरोंमें आवागमनकी बातें सामान्य-सी थीं। अष्ट सिद्धियाँ धर्मके वे वैज्ञानिक आविष्कार रहे हैं, जिनकी ऊँचाइयोंका धरातल भी आजका विज्ञान छूनेका भी साहस नहीं कर पा रहा है। भारतका ज्योतिष-विज्ञान कितना महान् रहा, उसने मानवके जन्मते ही पूरी आयुके हाल तथा संसारके युग-युगोंकी—हजारों-लाखों वर्षोंकी सच्ची भविष्य-वाणियाँ की हैं।

धार्मिक संघर्ष

अपने देश-धर्मके इतिहाससे अनभिज्ञ या नाममात्रको परिचित विदेशी इतिहासोंके ज्ञाताओंके मतानुसार 'धर्म एक फसादकी जड़' है। अतः ऐसे लोग धर्मका समूलोच्छेदन करना चाहते हैं। परंतु धर्मके संघर्ष भारतमें नहीं, पाश्चात्य देशोंमें ही होते रहे हैं, जहाँ कैथलिक्स प्रॉटेस्टेंटोंके पारस्परिक खून-खच्चर, शिया-सुन्नियोंकी आपसी मार-काट होती ही आयी है। परंतु सनातन-धर्मने अपना प्रसार केवल प्रेमसे ही किया है। इतिहासमें ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा, जहाँ सनातनियों या वैदिकोंने अन्योंसे धर्मके नामपर अपनी ओरसे संघर्षकी कोई पहल की हो। अपितु इसके विपरीत ईश्वरविरोधी बौद्ध-धर्म और वेदविरोधी जैन-धर्मके

प्रवर्तक 'बुद्ध' तथा ऋषभदेव सनातन-धर्ममें भगवान् माने गये। सनातन-धर्म सहिष्णु धर्म है। वह सब धर्मोंको आदरकी दृष्टिसे देखता है। उसे तो **'बुरा न दीखा कोय।'** यही कारण है कि भारतमें पारसी, ईसाई, मुसल्मान आदि सभी मतावलम्बी सदासे ही सप्रेम प्रश्रय पाते आये हैं। धर्म-परिवर्तन सनातन-धर्मको कभी अभीष्ट न रहा। तभी तो कहा गया—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'

सनातन-धर्म समन्वयवादी धर्म भी है। उसने वेदान्ती और वाममार्गी—अघोरपंथीको एक ही मञ्चपर एकत्र किया है, **'निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध'** का पाठ जन-जनको पढ़ाया है। आजके धर्म-हीन मानवने कई विघटनकारी 'वादों' (Ism) को जन्म दिया है, जिनसे सुधारके नामपर बिगाड़ ही हो रहा है। मानवसेवा और विकासके नामपर आकाशसे बम गिराये जा रहे हैं। आजका प्रगतिवादी मानव पिशाच हो गया है।

आज जो भावनात्मक एकताकी बात कही जाती है, वह किसी बाह्याचारसे नहीं, वरं धर्मसे ही साध्य है। भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें वेष, भूषा, भाषा, आचार-विचार आदिके सर्वथा पृथक्-पृथक् होते हुए भी धर्म ही सारे भारतको एक सूत्रमें पिरोये रखकर एकता बनाये हुए है। यदि ऐसे धर्मकी उपेक्षा की गयी तो जैसे सूत्रके टूटनेपर मालाकी मणियाँ बिखर जाती हैं, उसी तरह भारत व्यक्ति-व्यक्तिमें खण्डित हो जायगा।

धर्म और प्रगति

आज धर्मको अफीमकी गोलियाँ कहकर उसे प्रगति-का बाधक बतलाया जाता है। परंतु वास्तविकता यह है कि धर्मने मानवको पशुत्वके दायरेसे निकालकर मानवता दी है। आज फिर मानव धर्मसे दूर होकर आसुरी वादोंकी प्रगतिवादी नवीनतामें फँसकर केवल रोटी-कपड़ेमें सिमट गया है और इस प्रकार प्रगतिके नामपर अप्रगतिशील हो गया है। वह मानव होकर भी इतना गिर गया है कि रोटी-कपड़ा जुटानेके नामपर उसे चोरी, षड्यन्त्र, हिंसा, अन्याय, लूट आदि सब कुछ करना स्वीकार है। वास्तवमें बात तो यह है कि आजका मानव अपनेको चाहे प्रगतिशील कहे या कितने ही ऊँचे वादका माननेवाला बनावे पर इस प्रकार है वह आत्मवञ्चक और स्वयंमें सिमटा-सिकुड़ा व्यक्ति-वादी जीव।

मानवके समक्ष ये प्रश्नोत्तर होते रहते हैं कि—तुम कमाते क्यों हो ? उत्तर है—खानेके लिये। और खाते क्यों हो ? उत्तर है—जीनेके लिये। परंतु जीते क्यों हो ? इसका कोई संतोषजनक उत्तर धर्मको अफीम माननेवाले इन तथाकथित प्रगतिमान् लोगोंके पास नहीं है। वे तो प्रत्यक्षमें या परोक्षमें श्वानवृत्ति अपनाये हुए जीते हैं। परंतु इसका उत्तर धर्मके पास यह है कि अपने समस्त व्यवहारोंसे कण-कणमें व्याप्त ईश्वरकी सेवा करनेके लिये ही जीवन धारण करते हैं।

धर्म और साम्य

धर्मके विषयमें ये भ्रान्तियाँ फैलती जा रही हैं कि धर्ममें ऊँच-नीच है और वह सर्वहाराकी उपेक्षा करके अधिनायकवाद या पूँजीवादको अपनाता है। परंतु देखिये ये तथ्य कितने आधारहीन हैं—जहाँ अजामिल, गणिका, सदन कसाई तारे गये, शबरी-कुब्जा पूज्या हुईं, विलोम जातिमें उत्पन्न सूत पूजे गये और कबीर-रैदासकी गणना महान् संतोंमें की गयी, उसपर ऊँच-नीचका दोष लगाना सर्वथा भ्रम है, धर्मके प्रति अन्याय है। एक ही शरीरके अङ्ग सिर तथा पैरमें व्यवहार-भेदकी भाँति व्यवहारभेद अनिवार्य है। पर धर्म कभी आत्मभेद नहीं सिखाता। इसीसे धर्मपरायण पुरुष समदर्शी (समदर्शिनः) होते हैं। दूसरी बात जो पूँजीवाद-

के पक्षके समर्थनकी कही जाती है, वह भी निराधार है। धर्मने ईश्वरको धनिकबन्धु न मानकर दीनबन्धु या दीनवत्सल कहा है। द्रव्यसाध्य यज्ञ-यागादिकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञको, प्रेमयज्ञको सर्वोच्चता दी गयी है। उपासनामें नामकीर्तन एवं पत्र-पुष्प पर्याप्त हैं और यदि ये भी न हों तो जल ही सही।

धर्महीनता सब बुराइयोंकी जड़ है

आज उन्नत कहलानेवाले शिक्षित और उच्चवर्गोंमें जो सभी प्रकारका भ्रष्टाचार पनपकर देशको रसातलकी ओर ले जा रहा है, इसका कारण उनमें धर्मका अभाव है। यदि वे धार्मिक होते तो वे 'सीय-राममय' ही सारे जगत्‌को देखते और उस अवस्थामें वे कोई पाप, दुराचार, किसीके प्रति दुर्व्यवहार कर सकते? धर्मकी प्रेरणासे ही धार्मिक सर्वत्र सब स्वरूपोंमें उस विराट् भगवान्‌के दर्शन करता है।

आज कालेजोंके छात्रोंमें जो स्वेच्छाचार, उच्छृङ्खलता पनप रही है, उसका कारण भी धार्मिक शिक्षाका अभाव ही है। धर्म छिपकर भी पापसे रोकता है। अतः धर्महीनता सब बुराइयोंकी जड़ है।

धर्म और राष्ट्रसंघ

आजके संयुक्त राष्ट्र-संघसे भी महान् कल्पना धर्म-जगत्‌में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूपमें न जाने कबसे हो गयी थी। तभी तो ये भावनाएँ, प्रार्थनाएँ इस विश्व-कुटुम्बके लिये की जाती थीं—

'सर्वे भवन्तु सुखिनः' (सब सुखी हों)

'कामये दुःखतप्तानामार्तानामार्तिनाशनम्।'

(दुःखतप्त पीड़ितोंकी पीड़ाका मैं नाश चाहता हूँ)

ऐसा राष्ट्रसंघ एक संघ न रहकर निजका कुटुम्ब हो जाता है। फिर अपने आत्मीयोंसे ईर्ष्या, स्पर्धा और द्वेष कहाँ?

धर्म और वर्तमान परिस्थिति

कहते हैं आजका युग इतना जटिल और विषम है कि ऐसे समयमें धर्मपालन करना शक्य नहीं है। परिस्थितियाँ भी विकट हैं, समस्याएँ भी उग्र हैं। परंतु ये सब धर्मके प्रति अनास्था और बहानेमात्र हैं। विज्ञानने आज जीवनको इतना सरल बना दिया है कि जीवनोपयोगी साधन, जिन्हें जुटानेमें पहले अत्यन्त कठिनाइयाँ आती थीं, अब पलक मारते प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी स्थितिमें धर्मपालन वास्तवमें और भी सुगम है।

यह निश्चय है कि ये भ्रान्तियाँ शीघ्र नष्ट होंगी और मानव-समाज आधुनिकतासे उकताकर वास्तविकतासे परिचित हो धर्मके प्रति आकृष्ट होगा।

ब्रजवासकी विधि

ऐसैं ही वसिये व्रज वीथिन।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि, उदर पोषिये सीथिन॥
घूरन में के बीन चिनगटा, रच्छा कीजै सीतन।
कुंज कुंज प्रति लोटि लगै उड़ि, रज व्रज की अंगीतन॥
नितप्रति दरस स्याम स्यामा कौ, नित जमुना जल पीतन।
ऐसेहिं 'व्यास' होत तन पावन, ऐसेहिं मिलत अतीतन॥

—संत व्यासदासजी

पूजा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'यह तुम क्या कर रहे हो ?'

'पूजा कर रहा हूँ।'

'किसकी पूजा ?'

'बाघ देवताकी।'

'बाघ भी देवता होता है ?'

'क्यों ? क्या भवानी बाघपर बैठतीं नहीं ? मैंने तो अपने बूढ़े बापसे ऐसा ही सुना है।'

'बैठती तो हैं।'

'तब फिर ?'

'तुम भवानीकी ही पूजा क्यों नहीं करते ?'

'उनकी पूजा तो पण्डित करते हैं। मैं तो भील हूँ। भवानी तो संसारकी महारानी हैं। मेरा बाप कभी राजधानी जाता था तो बड़ी कठिनाईसे उसे महाराजके घोड़के पैर मलनेको मिलते थे।'

'लेकिन तुम तो बाघ भी पाल सकते हो। बाघकी मूर्ति क्यों पूजते हो ?'

'जंगलके जीवको बाँधकर रखूँगा तो वह दुखी होगा। उसके लिये रोज-रोज बकरा या हिरन मारना पड़ेगा। भवानीका बाघ कैसा है, मैंने यह देखा तो है नहीं। जंगलका कोई बाघ बाँध लेनेसे लाभ भी क्या ?'

'बाघकी इस मूर्तिकी पूजा करनेसे क्या लाभ होगा ?'

'बाघ-बाघ सब देखनेमें एक-जैसे होते हैं। भवानी, सुना है कि, पर्वतकी पुत्री हैं। बाघपर बैठती हैं तो नगरमें तो घूमती नहीं होंगी। जंगल-पहाड़में घूमनेवाली वे देवी कभी इधरसे भूले-भटके निकलेंगी तो उन्हें लगेगा अवश्य कि यहाँ कोई दीन जंगली उनके बाघकी मूर्ति पूजता है।'

'वे प्रसन्न हो जायँ तो तुम उनसे क्या माँगोगे ?'

'मैं भला क्या माँगूँगा उन सारे संसारकी महारानीसे, उनका दिया ही तो है मेरा यह देह। इस नीच जातको एक बार दूरसे वे दीख जायँ—मैं उनके चरणोंको दूरसे पृथ्वीमें सिर रखकर प्रणाम कर लूँ, बस !'

'किंतु तुम्हारी यह पूजा कैसी है ? तुम तो बाघपर चढ़े बैठे हो !'

'महाराज ! मैं इसपर बैठा कहाँ हूँ ? वर्षाका पानी पड़ते रहनेसे काई लग गयी है इसपर। इसकी पीठ रगड़कर साफ कर रहा हूँ। राजाके घोड़ेको भी रगड़कर साईस नहलाता है, यह मैंने देखा है। इसे साफ कर लूँ तो फिर पत्ते, फूल, चिड़ियोंके पंख और गुञ्जासे इसे ऐसा सजा दूँगा कि भवानी देखें तो प्रसन्न हो जायँ ! कहीं वे एक पल इस बाघपर बैठ जायँ तो मैं सब पा गया।'

'भाई ! तुम एक कृपा करोगे मुझपर ?'

'महाराज ! आप मुझे क्यों नरकमें डालते हैं ? मैं नीच भील आप महात्मापर भला कृपा करूँगा ? आप साधु-महात्मा हो। आप कोई आज्ञा करो तो अभी दौड़कर पूरा करूँगा। आपको कोई कंद चाहिये ? कोई जड़ी चाहिये ? कोई हिरन या बाघका चमड़ा चाहिये तो आज्ञा करो।'

'यह सब तो मुझे नहीं चाहिये। मुझे लगता है कि देर-सवेर जगन्माता भवानी यहाँ आयेंगी अवश्य। वे यहाँ आये बिना रह नहीं सकतीं।'

'हाँ, महाराज ! वे जंगलमें ही घूमती हैं तो कभी-न-कभी इधर भी आयेंगी, मुझे यह पक्का भरोसा है ।'

'वे आयेंगी और तुम्हारे इस बाघपर बैठेंगी भी ।'

'सच महाराज ? आप महात्माओंकी बात झूठी नहीं होती । अब मैं इस बाघको और सजाया करूँगा । रोज-रोज सजाऊँगा ।'

'सो तो तुम करोगे, किंतु वे आयें तो उनसे प्रार्थना करना कि वे मुझे भी दर्शन देनेका अनुग्रह करें ।'

'महाराज ! वे सारे संसारकी महारानी—उनके सामने मुझसे बोला जायगा ? मैं तो दूरसे छिपकर उनके चरण देखूँगा । इस नीचके ऊपर उनकी दृष्टि पड़े, इतना साहस मैं कैसे करूँगा ?'

'तुम मनमें ही प्रार्थना कर लेना !'

'हाँ, यह कर लूँगा । वे मनकी बात जान लेती हैं, यह बापू कहता था ।'

× × ×

मल्लिकार्जुनका वन कुछ वर्षों पूर्वतक अगम्य था, आज भी उस वनमें शेरोंकी उन्मुक्त क्रीड़ा चलती है । इक्का-दुक्काकी बात छोड़िये, दस-बीस यात्री भी वहाँ नहीं जा सकते थे । वहाँकी यात्रा तो केवल शिवरात्रिपर होती थी, जब सशस्त्र पुलिस पूरे मार्गमें नियुक्त होती थी । यह कथा तो शताब्दियों प्राचीन है । तब तो वह वन और भी गहन था । बस तो वहाँ अब जाने लगी है, जब तीन-चार वर्ष पूर्व पक्की सड़क बनी है ।

भील सदासे अरण्य-पुत्र है । घोर काननमें उनके झोपड़े आज भी हैं । वनके हिंस्र पशुओंसे उनका पारिवारिक-जैसा सम्बन्ध होता है । वनमें खाली हाथ भील उतना निर्भय होता है, जितना राइफल भरा निपुणतम शिकारी भी नहीं होता ।

सूखे पुआलकी ढेरीके समान गुम्बदके आकारवाले परस्पर सटे थोड़े-से झोपड़े होते हैं भील-पल्लीमें । कोई ऊपर हवाईजहाजसे देखे तो लगे कि भेड़ोंका झुंड परस्पर सटा बैठा है । मिट्टीकी कच्ची दीवारें, कहीं-कहीं अनगढ़ पत्थर चुनकर वे बनी होती हैं; किंतु इतनी नीची कि आधीसे अधिक ढालुवाँ फूसके छप्परसे छिपी रहती हैं । पूरे ग्रामको घेरकर एक ऊँची, घनी कँटीली बाड़ अवश्य होगी और उसमें प्रवेशका एक संकीर्ण मार्ग होगा, जो रात्रिमें टट्टरसे बंद किया जाता होगा । वनमें रहना है तो वनके रात्रिचर क्रूर पशुओंसे अपनी, अपने परिवारकी, अपने पशुओंकी रक्षाकी व्यवस्था तो रखनी चाहिये ।

मल्लिकार्जुनके वनमें ऐसी ही एक भील-पल्लीके बाहर मिट्टीके ऊँचे चबूतरेपर पत्थरसे बनी एक बाघकी मूर्ति थी । मूर्ति इतनी बड़ी थी कि एक ऊँचा पूरा बाघ भी उससे तनिक छोटा ही होगा; किंतु भीलोंके हाथोंने उसे गढ़ा था । आप मूर्तिकलाकी बात करें तो वह वहाँ नहीं चलेगी । अवश्य ही वह मूर्ति चाहे जितनी भद्दी हो, बाघकी ही मूर्ति है—यह देखनेवालेको लग जाता था ।

उस दिन एक भील युवक मूर्तिकी पीठपर बैठा उसे रगड़-रगड़कर धो रहा था । उधरसे एक साधु निकले तो उन्हें कुतूहल हुआ ।

निकटतम नगर जो इस वनके समीप है, लगभग पाँच-छः योजन दूर है । ये महात्मा लोग बड़े अटपटे होते हैं । अब देखिये कि ये साधु महाराज सिंह, बाघ, भेड़िये, चीते और उनसे भी भयानक, क्रूर भीलोंसे भरे इस वनमें नगरसे दो योजन दूर आ टिके हैं एक पहाड़ीपर । भील अब इन्हें सिद्ध मानें तो आश्चर्य क्या । सुना यह है कि इनकी उस टेकरीपर बाघ-चीता कोई नहीं चढ़ता । जंगलके कंद, फल, पत्ते छोड़कर खानेको वहाँ धरा क्या है । अवश्य ही भील इन्हें मधु, कंद आदि पहुँचा दिया करते हैं ।

'यहाँ पूजा ठीक हो जाती है ।' साधुओंकी बात वे ही जानें । वैसे कभी इन महात्माजीको किसीने पूजा करते देखा नहीं । ये तो प्रायः वनमें, और वह भी नगरकी दिशासे आनेवाला मार्ग जहाँ ऊँचे पठारपर लुप्त हो गया है, घूमते रहते हैं ।

'बाबा ! आप रात्रिमें पूजा करते हो ?' एक बूढ़े भीलने एक दिन पूछा था । दिनमें जो पूजा नहीं करता और अच्छी पूजाकी बात करता है, वह रातमें पूजा करता होगा, यही तो कोई सोचेगा ।

'बड़े दयामय हैं भगवान् शिव । वे नाना रूपोंमें पूजा लेने आ जाते हैं ।' भीलकी समझमें कुछ नहीं आया । उसे बस, लगा कि रात्रिमें अवश्य शिव-भगवान् साधुके समीप आते होंगे ।

साधु तो दिनभर भटकते हैं । प्रायः पठारपर भूले-भटके यात्री मिल जाते हैं उन्हें । उनको वे अपनी कुटियापर ले आते हैं । रात्रिमें कोई भूल जाय पठारपर मार्ग—भील भी रात्रिमें तो वहाँ बचे रहनेकी आशा नहीं कर सकता । ये महात्माजी ही आश्रय हैं ऐसे मार्गच्युत पथिकोंके । बड़े स्नेह-सम्मानसे सत्कार करते हैं । यही उनकी पूजा है; किंतु भील इस पूजाको कैसे समझ सकता था ।

× × ×

'महाराज ! आपका आशीर्वाद सफल हुआ ! ढेरसे कंद, फल और पूरा बड़ा छत्ता मधुका लिये भील युवक महात्माकी टेकरीपर उस दिन पहुँचा । उसके पैर ठिकाने नहीं पड़ते थे । वह जैसे उन्मत्त हो रहा था ।

'क्या ? कैसा आशीर्वाद ?' महात्मा किसीको आशीर्वाद देते नहीं । इस युवकको उन्होंने कब आशीर्वाद दिया, उन्हें स्मरण नहीं ।

'माता भवानी आयी थीं कल ! वे मेरे उस बाघपर कूदकर बैठ गयीं । देरतक बैठी रहीं ।' वह जैसे हर्षोन्मादमें कह रहा था । 'वे अपना बाघ लगता है घर छोड़ आयी थीं । मेरा बाघ दीखा तो प्रसन्न हो गयीं ।'

'भवानी आयी थीं ? वे आयी कैसे थीं ?'

'वे क्या अकेली आयी थीं ? उनके साथ तो तीन आँखवाले, चन्द्रमा सिरपर पहने, सर्प लपेटे बाबा भी थे । दोनों बैलपर चढ़े आये थे । मेरा बाघ दीखा तो महारानी बैलपरसे कूदकर उसपर बैठ गयीं ।'

'तुम कहाँ थे ?'

'मैं क्या इस नीच देहको लेकर उनके सामने जाता ? मैं तो पेड़के पीछे छिपा देख रहा था । महारानी हँस रही थीं ।' सहसा चौंककर वह बोला—'मैंने मनमें प्रार्थना तो की थी कि वे आपके यहाँ आयें । वे इधर आये भी थे । आप मिले नहीं क्या ?'

'वे उमा-महेश्वर थे ?' साधु अब चौंके । कल सायं एक वृद्ध दम्पति उनको पठारपर मिले थे । उनके साथ एक बूढ़ा बैल था । रात्रिभर वे इस कुटियामें रहे । यह वन और उसमें वृद्ध दम्पति ! इस घोर वनमें बूढ़ा बैल साथमें—क्यों इन बातोंपर ध्यान नहीं गया ?

'अतिथिमात्र उन महेश्वरके रूप हैं, यह मानकर मैं पूजा कर रहा था । वे अतिथि होकर आये; किंतु····' देर लगी साधुको प्रकृतिस्थ होनेमें । भरे कण्ठसे वे बोले—'तुम्हारा सहज विश्वास कहाँ था मुझमें कि मैं उन श्रद्धा-विश्वासस्वरूपको पहचान पाता ?'

× × ×

मैंने अनेक वन्य ग्रामोंके बाहर व्याघ्रमूर्ति देखी है । ग्रामीण उस मूर्तिकी पूजा करते हैं । नहीं जानता कि व्याघ्रमूर्तिकी पूजा-परम्परा उस भील युवककी श्रद्धासे प्रारम्भ हुई, अथवा इसमें कोई और भी रहस्य है ।

विचारक बननेका मूल मन्त्र क्या, क्यों और कैसे ?

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

समस्त जीव-सृष्टिमें मनुष्यका स्थान सबसे ऊँचा है। इसका एकमात्र कारण मनुष्यकी विशिष्ट विचारशक्ति ही है। वस्तुतः मनकी विशेषताके कारण ही उसका नाम मनुष्य या मानव है। मन, वाक् एवं शरीरकी त्रिविध शक्तियोंमें सबसे प्रधान एवं मूल-शक्ति मनकी है। सर्वप्रथम विचार मनमें उत्पन्न होता है, फिर वचन एवं शरीरकी प्रवृत्ति होती है। विचारोंसे ही मनुष्य बनता है या बिगड़ता है। धर्म या पापका मापदण्ड मनुष्यके विचार ही हैं। जिस व्यक्तिके विचार पवित्र हैं, वह धार्मिक है और जिसके विचार बुरे हैं, वह पापी। भारतीय दर्शनपद्धतियोंमें विचारोंको पवित्र रखनेपर विशेष बल दिया गया है।

सत्-असत् अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ज्ञान ही विवेक है और उसका मूलाधार विचार है। सुख-दुःखकी सारी कल्पना हमारे विचारोंपर ही निर्भर है। अतः प्रत्येक मानवके लिये विचारक बनना नितान्त आवश्यक है। पर साध्यके लिये साधनकी आवश्यकता होती है। विचारोंका मूल-मन्त्र क्या है, यह जान लेना आवश्यक है।

विश्वका सारा ज्ञान-विज्ञान हमारे जीवनकी अनुभूतियोंसे भरा पड़ा है, पर इस ओर हमारी आँखें बंद हैं। अतः इनसे हम वञ्चित रह जाते हैं। आनन्दका भंडार हमारे अंदर ही भरा पड़ा है, पर हमारी दृष्टि बाहरकी ओर लगी है। हीरोंको छोड़कर हम कंकड़-पत्थरका संग्रह कर रहे हैं। आनन्दका स्रोत हमारे पैरों-तले बह रहा है, पर हम उस ओरसे बेसुध होकर कस्तूरी-मृगकी भाँति इधर-उधर भटकते फिर रहे हैं। जैन संत आनन्दघनने कहा है—

> प्रगट निधान प्रगट सुख आगले,
> जगत उल्लंघी रे जाय।
> आनन्दघन हीरो जन छाँडी,
> नर मह्यो माया ककरी री॥

उपर्युक्त कथनको अध्यात्म-योगियोंकी ऊँची उड़ान कहा जा सकता है; किंतु साधारणतया हम इस बातका तो अनुभव करते ही हैं कि जीवन अनुभूतियोंका महत् भंडार है। प्रतिपल इतनी बातें तथा घटनाएँ हमारे अनुभवमें आती हैं कि यदि प्रत्येक बातपर विचार करनेके लिये जरा-सा भी समय दिया जाय तो हमारा स्वल्प जीवन न जाने कितनी समस्याओंमें ही उलझकर रह जायगा। फिर भी कार्य-कारणका सम्बन्ध तथा विश्वकी विविधता एवं विचित्रताका रहस्य जाने बिना मनको संतोष नहीं होता, अतः विचार करते रहना हमारे लिये स्वाभाविक एवं आवश्यक है। इसके लिये किताबी ज्ञानकी उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी विचार करनेके अभ्यासकी है। अनुभूतिकी बृहत् पोथी खुली है; जितना ही अधिक मनुष्य उस ओर ध्यान देगा, उसका ज्ञान स्वयं विकसित होता चला जायगा। यदि वह विचार-संलग्न रहा तो जिन समस्याओंका समाधान बड़े-बड़े ग्रन्थोंकी सहायतासे नहीं मिल पाता, वे सहज ही सुलझ जायँगी। यह बात सुनी-सुनायी या पढ़ी हुई नहीं, मेरे स्वयंके अनुभवोंपर भी आधारित है। यौवनके विकासके साथ-साथ मेरी जिज्ञासा तीव्र होती चली और पग-पगपर प्रश्नोंका ताँता लगने लगा। उनके समाधानके लिये मैं ग्रन्थोंका अध्ययन तथा योग्य व्यक्तियोंसे परामर्श करता, पर पूर्ण संतोष नहीं होता था। फिर भी कुछ नये प्रश्न उपस्थित हो जाते। अन्तमें इनपर स्वयं विचार करते-करते सहज समाधान होकर चित्त शान्त हो जाता।

जीवनमें नित्य नयी घटनाएँ होती रहती हैं, पर उनपर समुचित विचार न करनेसे चलचित्रकी भाँति वे स्मृतिसे विलीन हो जाती हैं। पर यदि हम प्रमुख घटनाओंपर विचार करनेका अभ्यास डालें तो उनके आश्चर्यजनक रहस्य जानकर बड़ा संतोष एवं शान्ति मिलेगी।

इस विश्वके रङ्गमञ्चपर अवतरित होनेके बाद मनुष्यका मस्तिष्क शनैः-शनैः विकसित होने लगा और उसमें विचारोंका उद्गम हुआ। विविध समस्याएँ उसके सामने उपस्थित हुई हैं और उसकी विचार-शक्ति भी विकसित होती चली गयी है।

मैं कौन हूँ? जगत् क्या है? मेरा इसके साथ क्या सम्बन्ध है? विश्वके प्राणियोंके साथ मेरी मित्रता क्यों? अमुक घटनाके घटित होनेका कारण क्या है? जगत्की व्यवस्था इतनी वैचित्र्यपूर्ण एवं रहस्यमयी क्यों? इत्यादि। ऐसी जिज्ञासाएँ बढ़ती जाती हैं और उनके समाधानका प्रयास ही दर्शन-शास्त्रके उद्गमका मूल है।

इन जिज्ञासाओंका केन्द्र अथवा सूत्र 'क्या' और 'क्यों'—इन दो शब्दोंमें ही निहित हैं। इन्हींकी भित्तिपर दर्शनशास्त्रका भव्य प्रासाद निर्मित हुआ है।

इन्हीं सब जिज्ञासाओंके मञ्चपर विचाररूपी खिलाड़ीने विविध खेल खेले हैं। एक विचारने अन्य विचारोंको आमन्त्रित किया। समस्याएँ बढ़ने लगीं, मनुष्यकी उलझनों तथा द्विविधाओंमें पड़ी बुद्धि सत्यासत्यका निर्णय करनेमें चकरायी, विरोधी विचारोंकी परस्पर टक्कर हुई। जिसने जैसी अनुभूति की, वाणीद्वारा उसे दूसरोंतक पहुँचाया। अनुभूतियाँ शास्त्रोंके रूपमें हमारे सामने आयीं। एक ही सत्य अनेक रूपोंमें भासित होने लगा और विचार-संघर्ष छिड़ा। उसे दूर करनेके लिये कई मनीषियोंने अनेकतामें एकता खोजनेका प्रयास किया। 'सौ सुजान एक मत' में विचारोंकी एकता खोजी जाने लगी, यद्यपि साधारण जनता विचार-वैविध्य देखकर घबरायी थी। विविध दर्शनों, सिद्धान्तों एवं शास्त्रोंकी उत्पत्ति एवं विकासका यह संक्षिप्त वृत्तान्त है।

जैसा कहा जा चुका है, 'क्या' और 'क्यों' से सारे विचार-जगत्की सृष्टि हुई। आप भी विचारक बनिये। छोटी-से-छोटी बातों तथा घटनाओंके कारण, परम्परा एवं रहस्यपर विचार कीजिये—'अमुक घटना क्यों हुई? मुझे अभी क्रोध क्यों आया? अमुक बुरे विचार आये तो क्यों? मैंने अमुक कार्य क्यों किया? अमुक व्यक्तिने मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया? मैं किसी कार्यमें सफल क्यों न हो सका? विश्वमें इतनी विविधता क्यों है?' जितने भी कार्य होते हैं उनका कोई-न-कोई कारण अवश्य है। उस कारणको खोज निकालिये। इससे आपको एक नयी दिशा मिलेगी। आपको जो कुछ करना अथवा बनना है, तदनुरूप साधनोंको जुटाकर आप मनचाही सफलता प्राप्त कर सकेंगे। यद्यपि विचारोंकी दुनियामें आगे बढ़ना सरल नहीं है, मार्गमें अनेक बाधाएँ उपस्थित होंगी, तथापि उनसे घबराकर रुकिये नहीं। द्विविधाओंपर विजय प्राप्तकर आगे बढ़ते चले जाइये और जबतक कार्य-कारणको भलीभाँति न जान लें, अभ्यास चालू रखिये। थोड़े दिनोंमें ही आपका चित्त समाधिस्थ होने लगेगा, चित्तकी चञ्चलता तथा मनकी दुर्बलता दूर होने लगेगी। जो ज्ञान हजारों ग्रन्थोंके अध्ययनसे नहीं मिलता, वह विचारोंके अभ्याससे अपने-आप प्राप्त हो जायगा।

विचार करनेका अभ्यास करनेपर कठिन समस्याओंको सुलझानेमें सफलता मिल सकती है। विचारोंकी अनुभूति शास्त्रीय अध्ययन एवं श्रवणसे अधिक प्रामाणिक होती है। अनुभव-ज्ञानका माहात्म्य सर्वविदित है। विचार-

शक्तिके विकासके लिये एकान्त एवं मौनके साथ कार्य-कारण-सम्बन्धपर मनन आवश्यक है। किसी भी विषयको लेकर जितनी गहराईमें उतर सकें, उतरनेका प्रयत्न कीजिये। प्रत्येक बातके कई पहलू होते हैं। एक ही पहलूपर सोचनेसे उसका यथार्थ स्वरूप नहीं ज्ञात होगा। अतः जितने अधिक पहलुओंपर विचार कर सकें, कीजिये। गम्भीर बनिये, जल्दबाजी न करके धीरज रखिये। आपका मार्ग सही है या गलत, इसकी परीक्षाके लिये शास्त्रावलोकन तथा सत्पुरुषों और विचारकोंकी संगति भी लाभदायक होगी।

प्रत्येक कार्यके हानि-लाभपर विचार कीजिये। जीवनका लक्ष्य निर्धारित कीजिये। 'क्या' और 'क्यों'—ये ही विचारक बननेके गुरु या मूल मन्त्र हैं। आप भी अभ्यास कीजिये और जीवनको सफल बनाइये।

दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)

[गताङ्क पृष्ठ १०६९ से आगे]

मदुरासे २२ सितम्बरके मध्याह्नमें मीटर गेजकी रेलद्वारा हमारी यात्राटोली श्रीरामेश्वरम्‌के लिये रवाना हुई। दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रापर हम तीन सितम्बरको जबलपुरसे प्रस्थित हुए थे और अपनी यात्राके इन बीस दिनोंमें दक्षिण भारतके प्रायः सभी प्रधान तीर्थोंका दर्शन-सेवन कर चुके थे। रामेश्वरम् हमारी इस धार्मिक यात्राका अन्तिम लक्ष्य था। अतः ज्यों ही आज हम रामेश्वरम्‌को रवाना हुए, अपनी मंजिलको संनिकट देख आनन्दविभोर हो उठे। मीटर गेजकी रेल मन्थरगतिसे चल रही थी और पुलकित-तन डिब्बेमें बैठे हम खिड़कियोंसे निकटवर्ती सुषमा निहार रहे थे। दूर-दूरतक फैला रेतीला मैदान देखकर अनायास ही हमें भास हुआ, हम राजस्थानके किसी क्षेत्रमें विचरण कर रहे हैं, फिर दूर-दूरतक यत्र-तत्र अनन्नासकी अगणित झाड़ियाँ हमें दिखायी दीं, जो फलोंसे लदी थीं। फलोंसे लदी पृथ्वीतक झुकी ये झाड़ियाँ ऐसी जान पड़ती थीं जैसे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गमें आभूषण धारण किये कोई प्रौढ़ा नारी नतमस्तक पृथ्वीको प्रणाम कर रही हो। दूर-दूरतक फैले रेतीले मैदानमें यत्र-तत्र रेतके बड़े-बड़े टीले अथवा टापुओंके सदृश दृश्य देखते, जहाँ-तहाँ थूहर और अनन्नासकी झाड़ियोंका अवलोकन करते अब हमारी ट्रेन संध्या होते-होते समुद्रपर बने उस पुलपर चलने लगी जो श्रीरामेश्वरम्—द्वीपको मुख्य भूमिसे जोड़ता है। हम अपने डिब्बेमें दायें-बायें कभी इस खिड़कीसे कभी उस खिड़कीसे समुद्र-सुषमा निहारने लगे। यद्यपि अब रात्रि हो चली थी, तथापि लहराता समुद्र हमें चाँदनीके प्रकाशमें स्पष्ट दिखायी दे रहा था। पुलके निकट समुद्रतलमें पड़े शिलाखण्डोंसे टकरा-टकराकर समुद्रका पानी अनेक आकृतियोंमें अपनी अनुपम सौन्दर्य-छटा बिखेर रहा था। शिलाखण्डोंकी एक दीर्घ कतारको देख हमें भगवान् रामके उस सेतु-निर्माणकी कथा स्मरण हो आयी, जो उन्होंने लंकापर चढ़ाई करनेके लिये नल-नील आदि बंदरोंद्वारा निर्मित कराया था। नल-नीलको ऋषि-शाप था कि उनके द्वारा फेंके गये पत्थर पानीमें नहीं डूबेंगे। अतः अथाह समुद्रपर सेतु-निर्माणके लिये उस संकटकालमें नल-नीलको दिया गया वह ऋषि-शाप वरदानका काम करेगा, यह कौन जानता था। न शाप देनेवालेको ज्ञात था न शापित नल-नीलको। उल्टे शाप देकर ऋषिने अपना कोप शान्त किया होगा और शापित नल-नीलको उस समय क्लेश हुआ होगा। अनिष्ट-सूचक और अशुभ बातें भी कालान्तरमें कितनी इष्ट और कल्याणकारी बन जाती हैं, यदि हम यह अनुभव करें तो हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवनमें समय-असमयपर होनेवाले क्लेश हमें अधिक कष्टकारक प्रतीत न हों—यही नहीं, हम जीवनके कठिन क्षणोंमें इन अनुभवोंके आधारपर भयकातर और कर्तव्यच्युत होनेसे भी बच जायँ। यदि हम गौर करें तो ऐसी अनेक घटनाएँ आये दिनों हमारे दैनिक जीवनमें घटित होती ही रहती हैं, जिनका निकट परिणाम हमें कष्टकर प्रतीत होता है; किंतु दूर-दृष्टिसे वे हमारे कल्याणका हेतु बन जाती हैं।

लगभग एक मीलसे भी लंबे पुलको पार करते समय हमारे मस्तिष्कमें अनेक बातें उत्पन्न हुईं। त्रेतायुगमें जब

वैज्ञानिक साधनोंके अभावमें क्रेन आदिके सदृश इस प्रकारके कोई आधुनिक यन्त्रादिक निर्मित नहीं थे कि समुद्रको भी बाँधा जा सके, उस कालमें भी दुर्भेद्य लक्ष्य और अनहोनी बातों एवं कार्योंको सुसाध्य एवं सुगम बनाया गया है। यह भगवान् राम द्वारा समुद्रपर सेतु-रचना इस बातका ज्वलंत प्रतीक है। यह भी किसी जादू अथवा किसी अलौकिक एवं अव्यावहारिक अथवा अदृश्य प्रयत्नसे नहीं, अपितु अपने पराक्रम, पुरुषार्थ और अपनी अपराजेय शक्तिके द्वारा। फिर आज तो वैज्ञानिक प्रगतिके इस युगमें, जिसमें समुद्रपर बाँध या पुल बनानेकी बात भी नहीं रह गयी है, अपितु अन्तरिक्षकी यात्राएँ होने लगी हैं और इन यात्राओंसे सिद्ध हो चुका है कि चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदि अन्य ग्रह-नक्षत्रोंके जिन लोकोंकी कल्पना ही नहीं, जिनका वर्णन हमारे धर्म-ग्रन्थोंमें किया गया है और जिनकी यात्राएँ हमारे पूर्व पुरुष कर चुके हैं, समयकी इस दीर्घ दूरीके बाद आज अगम्य होते हुए भी हमारे लिये कोई नयी बात नहीं है। विज्ञान—आज जिसके आधारपर पश्चिमी और यूरोपीय देश तरक्की कर रहे हैं, अन्तरिक्षकी उड़ानें भर रहे हैं तथा अन्यान्य अनेक आश्चर्यजनक आविष्कारोंके द्वारा मानव-जगत्‌में कौतूहल मचा रहे हैं—आखिर वह ज्ञान ही तो है, जिसे हमारे पूर्वपुरुषों, तपस्वियों, ऋषि और मुनियोंने युगों पूर्व प्राप्त किया था। इन्द्रलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक, नागलोक आदिकी यात्राएँ, ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, चक्र-सुदर्शन, शब्दवेधी बाण, पुष्पक विमान और भगवान्‌के गरुड़ और हंस आदि वाहन—जिनका आधुनिक रूप वायुयान और अणु-आयुधोंने ले लिया है, हजारों वर्ष पूर्व हमारे धर्मग्रन्थोंमें वर्णित वाहनों और अस्त्र-आयुधोंका परिवर्तित रूप नहीं तो और क्या हैं। इस प्रकार अतीत कालमें ज्ञानकी जो ज्योति हमारे पूर्वपुरुषोंने अपनी तपःसिद्धि और पुरुषार्थसे प्राप्त की थी, कालान्तरमें हमारे आलस्य, प्रमाद और अज्ञानसे विलुप्त हो गयी और समय पाकर ज्ञानकी इस शिखासे दूसरोंने प्रकाश ग्रहणकर पराक्रम और प्रगतिके इस सोपानपर हमारे देखते-देखते अपने कदम बढ़ा दिये। भारतके अतीतके ज्ञानालोकका चिन्तन करते-करते जब हमने अपने नीचे पुलके निकट पड़े पाषाण-खण्डोंको देखा, जान पड़ा, दूर-दूरतक बिखरी पानीमें पड़ी तैरती-सी ये पाषाण-शिलाएँ आजके इस वैज्ञानिक युगमें भी नल-नीलके उसी प्रयत्न, पुरुषार्थ और अपराजेय शक्तिके साक्षी रूपमें हमें भारतके पुरातन युगकी याद दिला रही हैं। इस अवसरपर हमें इस बातने भी कम गौरवान्वित नहीं किया कि कथाओंमें वर्णित भगवान् रामके अनुचरों-द्वारा समुद्रपर सेतुनिर्माण किसी समय दुनियाके लिये अतीतकी एक अलौकिक, अद्भुत और असमंजस और अपरिमित सामर्थ्य भरी बात थी, पर आज हम प्रत्यक्ष देख रहे थे कि आदि मानवसे आजके मानवने कितनी तरक्की की है। कितना पराक्रम और पुरुषार्थ है उसमें। एक ओर वेग बहावहीन अगम सिन्धु पर वह पुल निर्माण करता है तो दूसरी ओर वेग-बहावपूर्ण तेज धारवाली तूफानी सरिताओंको भी बाँध-समेट मानवहितके लिये उनसे नहरें निकाल उन्हें प्रवाह-विमुख भी कर देता है। आजके वैज्ञानिक मानवके मस्तिष्कमें कितना ओज, कितनी बुद्धि और विवेक है तथा आजके श्रमिकमें शौर्य, सामर्थ्य और उसकी भुजाओंमें पौरुष है, यह समुद्रपर पड़े इस दीर्घाकार पुलको देखते ही सिद्ध हो जाता है। बुद्धिकी इस सृजनात्मक शक्तिका सदुपयोग यदि आजका मानव हर दिशामें कर सके तो अपने पारिवारिक, सामाजिक जीवनके खाई-खंदकोंको ही क्या पूर्व-पश्चिमके विशाल सिन्धुतटोंको समेटनेकी उसमें सामर्थ्य है, इसमें संदेह नहीं।

उस कालमें भगवान् रामके लङ्कागमनके लिये सेतु-रचना कर सहायक हुए थे नल-नील तो आज उन अनजाने अगणित श्रमिकों, इंजीनियरों और वैज्ञानिकोंके शरीर और मस्तिष्क-श्रमने हमें पार लगाया। इस विचारके साथ ही श्रद्धाभावसे नत-मस्तक उन सभीके प्रति जिनका समुद्रपर पड़े वर्तमान सेतु-निर्माणमें योग रहा, हमने प्रणाम किया।

लगभग आठ बजे हमारी गाड़ी रामेश्वरम् स्टेशनके प्लेटफार्मसे जा लगी। बड़े आनन्द और उत्साहभरे मनसे गंगोत्तरीका गङ्गाजलपात्र सभीने अपने-अपने हाथोंमें सम्हाल श्रीरामेश्वरम्‌की भूमिको प्रणाम करके ज्यों ही कुछ कदम आगे बढ़ाये, मरी हुई मछलियोंकी दुर्गन्धसे सबका मन एकदम क्षुब्ध हो गया। भारतीय मनीषियोंने हजारों वर्ष पूर्व एक ऐसे दार्शनिक सत्यकी खोज की थी, जिसे आजके बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक भी असत्य सिद्ध नहीं कर सके और उन्होंने भी इस तथ्यको सम्पूर्णरूपसे सत्य स्वीकार किया। यह सत्य है कि यह सृष्टि मूलरूपसे एक ही तत्त्व है—जो मैं हूँ, वही तुम और जो मैं और तुम हो, वही समस्त सृष्टि। अतः भारतीय संस्कृतिका मूल आधार सदा ही 'अहिंसा' रहा है। इसलिये

इस देशमें जितने निरामिषभोजी हैं, उतने संसारमें अन्यत्र कहीं नहीं। आजकी भारतीय सरकार जिस प्रकार मछली-मुर्गी-अंडे आदिका भोजनके रूपमें प्रचार कर रही है, उससे अनेक बार मन क्षुब्ध हो उठता है। रामेश्वरम्‌के सदृश तीर्थ-स्थलोंपर मछली मारने और मरी हुई मछलियोंके इस प्रकारके संग्रहको, जिससे कि इस पवित्र स्थलका सारा वातावरण ही इन मछलियोंकी सड़ाँद और दुर्गन्धसे विषाक्त हो जाय, हम सरकारका अक्षम्य अपराध मानते हैं। हमारी सरकार एक धर्मनिरपेक्ष सरकार है, इसका अर्थ यह तो नहीं कि वह जनभावनाओंका ध्यान न रखे और उनकी धार्मिक मान्यताओं, धार्मिक रुचि और विश्वासोंके विपरीत किसी ऐसे स्थानपर, जहाँ उसकी भावनाके भगवान् बसते हों, विषैला वातावरण पैदा करे। सरकारका यह कृत्य न केवल उसकी उपेक्षावृत्तिका परिचायक कहा जायगा वरं यज्ञ और पूजाके स्थानपर पाप और पाखण्डको प्रोत्साहन देनेवाला पुराणकालके ऋषि-मुनियोंके यज्ञ-तपभङ्गके सदृश एक दानवीय कृत्य माना जायगा। यदि ऐसा नहीं है तो हमारी अपेक्षा है कि सरकार इस सम्बन्धमें तत्काल कदम उठाये और रामेश्वरम् स्टेशनमें न केवल मछलियोंके इस प्रकारके संग्रहको बंद करे वरं इस पुण्यक्षेत्रमें मछली मारना भी अवैध घोषित कर दे।

श्रीरामेश्वरम्‌के पंडा हमारे साथ मदुरासे ही आये थे। अतः उनके साथ हमने घोड़ा-ताँगोंद्वारा श्रीरामेश्वरम्‌में—

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥

—चौपाई-स्मरणके साथ प्रवेश किया। मन्दिर-कमेटीके विश्रामालयमें पहुँचनेके पूर्व मार्गमें ही भगवान् रामेश्वरम्‌के मन्दिरके मुख्य द्वारपर माथा टेक दण्डवत् प्रणाम करके चूँकि मन्दिरके पट बंद हो चुके थे, हम अपने मुकाम, स्थानपर पहुँचे। यह स्थान, जहाँ हम ठहराये गये, मन्दिरके निकट ही आधुनिक सुविधाओंसे परिपूर्ण एक सुन्दर स्थान था। संध्या-पूजन करके हमलोगोंने कुछ जलपान किया और कलके लिये अपना कार्यक्रम पंडाजीके परामर्शसे निश्चितकर प्रभु-दर्शनकी लौ ले सुखपूर्वक भगवान्‌का ध्यान करके शिवके अतिथि बने शिवनिकेतनमें सो गये।

दिनाङ्क २३ सितम्बरके प्रातःकाल नित्य-नेमसे निवृत्त हो हम सबने असीम श्रद्धा, भक्ति और आह्लाद भरे मनसे भगवान् रामेश्वरम्‌के दर्शनार्थ मन्दिरमें प्रवेश किया।

भारतवर्ष तीर्थोंका देश है, इसकी सीमाएँ तीर्थोंकी सीमाएँ हैं, इसमें अनन्त तीर्थ हैं, फिर भी कोटि-कोटि भारतीयोंका ध्यान अपनी ओर खींचनेवाले जो तीर्थ हैं, उनमें श्रीरामेश्वरम् एक है। हमारे धर्मप्राण देशकी चारों दिशाएँ इन पवित्र तीर्थोंसे संरक्षित हैं। उत्तरमें श्रीबदरीनाथ, पूर्वमें श्रीजगन्नाथपुरी, पश्चिममें द्वारिका और दक्षिणमें श्रीरामेश्वरम्—ये चारों धाम अपनी धर्मध्वजाओंसे देशकी सीमाओंको संयोजित किये हैं। हर धर्मप्रिय भारतीयके मनमें अपने पारिवारिक दायित्व-निर्वाहके साथ इन तीर्थोंके दर्शन करके जीवन सफल करनेकी एक लालसा रहती है। उसकी यह लालसा उसे अपनी संस्कृतिसे, अपने पैतृक संस्कारोंमें मिलती है और ज्यों-ज्यों वह अपने पारिवारिक कर्त्तव्योंसे निवृत्तिकी ओर बढ़ता है, उसकी यह लालसा एक पैतृक कर्त्तव्य बन उसके सामने आ जाती है तथा यदि जीवनके चौथेपनमें उसकी यह लालसा देशके इन चारों धामोंकी यात्रा-दर्शनसे पूरी हो जाती है तो वह अपनेको सफल बना सका, वह जीवन्मुक्त हो गया—ऐसा मानता है।

हमने गत वर्ष इन्हीं भावनाओंसे उत्तराखण्डके यमुनोत्तरी, गङ्गोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथकी यात्रा की थी और अभी दक्षिणके अन्य देवस्थानोंके साथ श्रीरामेश्वरम् भी अपनी इसी भावनासे आये।

भारतके धार्मिक जीवनमें गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसकी रचना करके एक महान् क्रान्ति की है। भारतका प्रत्येक सद्गृहस्थ रामायणकी कथाओंसे परिचित ही नहीं, इसका नित्य पाठ करके सुख और शान्तिका अनुभव करता है। हमने अपनी 'उत्तराखण्ड-यात्रा' पुस्तकमें तीर्थोंकी स्थापना और उसके माहात्म्यके सम्बन्धमें कुछ चर्चा की है। कहा गया है—विशिष्ट पुरुषों, साधु-संतों, ऋषि-मुनियों और अवतारोंद्वारा सेवित स्थल तत्काल पुण्यप्रद तीर्थ बन जाते हैं। श्रीरामेश्वरम्‌की स्थापनाके इतिहास और उसके माहात्म्यके सम्बन्धमें सविस्तर वर्णन आया है। माहात्म्यके सम्बन्धमें भगवान् राम स्वयं कहते हैं—

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥
जो गंगा जलु आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥

यद्यपि रामेश्वरका नामकरण भगवान् शिवके नामपर हुआ है, तथापि शिवलिङ्ग भगवान् श्रीरामके द्वारा स्थापित होनेके कारण 'रामेश्वर' नाम पड़ा। इसके नामकरणसे ही

स्पष्ट है—राम-ईश्वर यानी रामके देवता। उन्होंने अपनी शिव-भक्तिके प्रमाणमें एक जगह कहा भी है—

सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥

तथा—

संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥

इतना ही नहीं, वे आगे कहते हैं—

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप-भरि घोर नरक महुँ बास॥

तथा—

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि।
भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥

मम कृत सेतु जो दरसनु करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही॥

तुलसीदासजी अपनी ओरसे कहते हैं—

सिव पद कमल जिन्हहि रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न सुहाहीं॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥

यही नहीं, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवादमें गोस्वामी तुलसीदासजी रामनामकी महिमा और रामभक्तिपर शिवजीके नेहको व्यक्त करते हैं—

मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥

तथा—

महामंत्र जेहि जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू॥
महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥

और—

रामनाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥

तथा—

संतत जपत संभु अबिनासी। सिव भगवान ग्यान गुन रासी॥
आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परम पद लहहीं॥

इतना ही नहीं—

सोपि राम महिमा मुनिराया। सिव उपदेसु करत करि दाया॥

इस प्रकार निशि-वासर निरन्तर अपने इष्ट रामका जप करते हुए शिवजी काशीमें मरनेवाले जीवको भी परमपदकी प्राप्तिके लिये रामनामका ही उपदेश करते हैं। एक ओर राम लङ्का-विजयके पूर्व सेतु-रचनाके साथ शिव-लिङ्गकी स्थापना करके भगवान् शंकरका पूजन करते हैं और अपने उपर्युक्त कथनोंद्वारा शंकरके प्रति अपने प्रेमकी पुष्टि, तो दूसरी ओर भगवान् शंकर उन्हें अपना इष्ट मान मोक्ष-प्राप्तिके लिये भगवान् रामके नाम-जपका—उनकी आराधना-पूजाका अपने भक्तोंको उपदेश देते हैं। तुलसीदासजीके शिवजी रामके सेवक हैं, सखा हैं और स्वामी हैं। परस्परका कितना सुन्दर सम्बन्ध है—'सेवक स्वामि सखा सिय पीके' इस प्रकार शिव और रामका तथा राम और शिवका परस्परके प्रति प्रेम, आदर और भक्ति-भाव एक ओर तुलसीदासजीकी समन्वय-वृत्तिका पोषक है तो दूसरी ओर हमारी धार्मिक सहिष्णुता और भारतीय संस्कृतिका सारतत्त्व भी इसमें निहित है। वैष्णवों और शैवों, सगुण और निर्गुण मतावलम्बियोंको एक समान दृष्टिकोणके रूपमें भगवान् रामके द्वारा शिवकी और भगवान् शंकरके द्वारा रामकी पूजा, उपासना और आराधनाका उपदेश करके तुलसीदासजीने न केवल अपनी भाव-भक्तिकी पुष्टि की है वरं भारतकी पुरातन समन्वयात्मक संस्कृतिकी जो सेवा की है, उसका मूल्याङ्कन और उसकी संस्तुति आधुनिक कौन कवि और भक्त कर सकता है। जैसा कि हमारे यहाँ कहा गया है—

सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केसौदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

इस प्रसङ्गमें अनेक बार लोग सूरदास और तुलसीदासजीको तुलनात्मक कसौटीपर कसनेका प्रयत्न करते हुए तुलसीदासजीकी निष्ठामें सूरदासकी अपेक्षा कमी होनेका उल्लेख करते हुए यह आरोपित करते देखे गये हैं कि जब कि सूरदासजीका समस्त साहित्य उनके एक ही इष्ट भगवान् श्रीकृष्णकी भाव-भक्तिसे भरा है तो तुलसीदासजी अपने इष्ट राम और सीताके साथ भगवान् शंकर, जगदम्बा-पार्वती, गणेशजी आदिकी वन्दना, स्तुति और भक्तिमें अनेक स्थलोंपर बह गये हैं। यह इष्ट-निष्ठाकी दृष्टिसे सूरदासकी अपेक्षा तुलसीदासजीके साहित्यमें एक कमी है।

ऐसे लोगोंके इस मतसे न केवल हमारा विरोध ही है, वरं उनसे हमारा एक विनम्र निवेदन भी है। वह यह कि तुलसीदासजी एक कवि थे—यही नहीं, इससे कहीं अधिक भक्त थे। और उनकी भक्तिका जो सबसे बड़ा आधार था, अपने इष्टका जो साकार रूप उन्होंने स्वीकार किया था, उसे अपने ही शब्दोंमें वे कहते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

इतना ही नहीं—वे अपने इष्टके विशाल और व्यापक रूपकी व्याख्या करते हुए उसकी वन्दना करते हैं—

देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदउँ किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥
आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥
सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इस दृष्टिसे अपने इष्ट और इष्टके अनन्त रूपकी—जिनमें शिव-पार्वती, गणेशजी, ब्रह्मा, सरस्वती भी सम्मिलित हैं—वन्दना जो उन्होंने की है, वह उनके काव्यका और कवि तथा भक्त-हृदयका स्वाभाविक गुण-धर्म होना चाहिये। तुलसीदासजीने अपने रामकी इस उपासना—आराधनामें केवल ब्रह्मा-विष्णु-महेश और अन्य देवी-देवताओंकी वन्दना की हो, यही बात नहीं; उन्होंने तो—

जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

—के अपने मतानुसार उन्होंने एक ओर संतोंकी निम्न वन्दना की है—

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥

तो दूसरी ओर—

बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ॥
परहित हानि लाभ जिन्ह केरें। उजरें हरष बिषाद बसेरें॥
हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से॥
जे पर दोष लखहिं सहसाखी। पर हित घृत जिन्ह के मन माखी॥
तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥
उदय केत सम हित सब ही के। कुंभकरन सम सोवत नीके॥
पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं॥
बंदउँ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ पर दोषा॥

—वे ऐसे दुष्टोंकी वन्दनासे भी नहीं चूके हैं और उनकी सज्जन-असज्जन, संत-असंतकी इस वन्दनामें उनका जो दृष्टिकोण है, वह भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया है। वे इस सम्बन्धमें आगे कहते हैं—

भलेउ पोच सब बिधि उपजाए। गनि गुन दोष बेद बिलगाए॥
कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना॥

तथा—

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सुजीवन माहुरु मीचू॥
माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा॥
कासी मग सुरसरि क्रमनासा। मरु मारव महिदेव गवासा॥
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगमागम गुन दोष बिभागा॥

इस प्रकार अभेद दृष्टिसे उन्होंने विश्वरूप भगवान्‌की वन्दना की है और इस वन्दनामें भी उन्होंने अपने रामकी भक्ति और उनका प्रेम माँगा है। जैसा कि उनके संतहृदय-द्वारा संतोंकी वन्दनामें व्यक्त है—

संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल बिनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु॥

इसी प्रकार जिन लोगोंका यह मत है कि सूरदासजीने अपने साहित्य द्वारा केवल अपने इष्ट भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना की है, वे यह भूल जाते हैं कि इष्ट एक होते हुए भी उन्होंने राधा, बलराम और महाप्रभु वल्लभाचार्यकी स्तुतिमें पद्य रचकर अपनी भाव-भक्ति प्रकट की है। उदाहरणके लिये महाप्रभु वल्लभाचार्यके भौतिक अवसानके अवसरपर सूरदासजी-द्वारा रचित निम्न पद्य महाप्रभु वल्लभाचार्यके प्रति उनकी श्रद्धा और भक्तिको प्रकट करता है। वे कहते हैं—

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ।
श्री बल्लभ नख चंद्र छटा बिनु सब जग माझ अँधेरौ॥
साधन और नहीं या कलि में, जासों होय निबेरौ।
सूर कहा कहै दुबिधि आँधरौ बिना मोल को चेरौ॥ भरोसो०

इस प्रकार हम देखते हैं जहाँतक तुलसीदासजी अथवा सूरदासजीकी इष्ट-उपासनाका प्रश्न है, वह अपने एकमात्र आराध्य राम अथवा कृष्णतक सीमित नहीं रही और न भक्तिके किसी संकीर्ण दायरेकी कैदमें वह कभी बँधी। हाँ, अन्तरात्मासे दोनोंने अपने समकालीन अपना इष्ट चुना और उसकी निष्ठामें आकण्ठ डूबे रहे। जहाँतक इष्टनिष्ठाका प्रश्न है, तुलसीदासजीको एक बार जब उनके इष्टके दर्शन श्रीकृष्ण-रूपमें होते हैं तो उनका निष्ठावान् भक्त हृदय कह उठता है—

तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बाण लो हाथ।

और—

कित मुरली कित चंद्रिका कित गोपिन को साथ।
अपने जन के कारने नाथ भए रघुनाथ॥

भगवान् श्रीकृष्णको अपने भक्तकी भावनाके अनुरूप धनुष-बाण धारण करना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदासजीके साहित्यमें निष्ठाकी न्यूनता न होकर भक्तिकी ऐसी सरिता बही है, जिसने अपनी शीतलता और प्रवाहसे न केवल अपने इष्ट अभीष्ट भगवान् रामका वन्दन-अभिनन्दन किया है, वरं 'हरि अनंत हरि कथा अनंता'के मतानुसार भगवान्‌के विविध रूपोंका यशोगान किया है। और इस दृष्टिसे

भक्तहृदयके साथ कवि, कलाकार अथवा साहित्यकारकी दृष्टिमें, जो स्रष्टाकी दृष्टि होती है, जितनी व्यापकता और विस्तार होना चाहिये, उसके अनुसार सूरदासकी अपेक्षा तुलसीदासजीने भक्तिके सागरमें अधिक गहरा गोता लगाया जान पड़ता है, जो उनकी विविध देवोंकी समन्वयात्मक दृष्टिकोणवाली मोतियोंकी मालाके रूपमें हमें आज प्राप्त है। फिर जैसा कि 'सूर सूर तुलसी ससी'की उपमासे उन्हें विभूषित किया गया है, उससे स्पष्ट है और उनके सारे साहित्यसे भी कि वे 'संत सरल चित जगत हित' के मूर्तिमान् रूप थे। उनका व्यक्तित्व, उनकी वाणी और उनका साहित्य सरलता, शील, सदाचार, संवेदना और सहिष्णुता आदि उन सद्गुणोंका प्रतिनिधि था, जिसकी प्रतिध्वनि और प्रतिछवि हम पुरातन कालसे भारतीय संस्कृतिमें देखते आये हैं।

फिर तुलसीदासजीकी साधना किसी ऐसे मूक साधककी साधना नहीं थी, जो अपनी तपस्या, भक्ति अथवा साधनाके द्वारा केवल अपने इष्टका ही साक्षात्कार करके मोक्ष प्राप्त करना चाहता हो। वे तो अपनी साधनाके द्वारा दूसरोंको, भारतके कोटि-कोटि जनोंको भगवत्-साक्षात्कार कराना चाहते थे, अपनी अन्तर्दृष्टिके द्वारा उन्हें दृष्टि प्रदान करना चाहते थे, विषमतामें समताका, विभेदमें अभेदका और विभिन्नतामें एकताका पाठ पढ़ाना चाहते थे। भारत विभिन्न धर्मोंवाला, विभिन्न भाषा, विभिन्न रीति-रिवाजों और विभिन्न जातियोंके लोगोंका एक विशाल देश है। इस विभिन्नतामें एकता जो हमारी संस्कृतिका मूलरूप है, बनी रहे—यही उनका प्रयत्न था। अतः उन्होंने विभिन्न देवोंके विभिन्न रूपोंकी एकरूपता और एकता प्रतिपादित करते हुए सगुण और निर्गुण मतावलम्बियों और उपासकोंको उपदेश करते हुए कहा है—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

इस प्रकार सगुण और निर्गुणकी एकरूपता और अभिन्नतामें तुलसीदासजीका बहुदेववादमें एक ही तत्त्वकी व्यापकताका प्रतिपादन है। (क्रमशः)

औषध, इन्जेक्शन और स्वास्थ्य

(लेखक—डा० श्रीरविकिशोरजी नशीने)

जब भी आपकी तबीयत बिगड़ती है, तब क्या आप औषध प्राप्त करनेके लिये आकुल हो उठते हैं? आपकी तबीयत कहीं एकाएक बिगड़कर गम्भीर न हो जाय, इसलिये औषध हमेशा साथमें रखा करते हैं या फौरन पासके डाक्टर, वैद्यराज, होम्योपैथ अथवा बायोकैमिकके पास चल पड़ते हैं या उनमेंसे किसीको बुलवा लेते हैं। इसका अर्थ यह है कि आप यह समझते हैं कि आप औषधसे ही नीरोग हो सकते हैं। आप अपने चिकित्सकसे कहते हैं कि अच्छी-से-अच्छी और ऊँची कीमतवाली औषधका उपयोग करके वे आपको शीघ्र ही नीरोग कर दें। तब भी यदि जल्दी नीरोग होनेके लक्षण नजर नहीं आते तब आप अपने चिकित्सकसे पुनः कहते हैं—'क्या इससे अधिक मूल्यवान् दवा उपलब्ध नहीं हो सकती?' इसका आशय यह हुआ कि आप चाहते हैं कि नित्य नयी और अच्छी-से-अच्छी और ऊँची-से-ऊँची औषधें तथा इन्जेक्शन्स निर्मित हों। किंतु आप स्वास्थ्य बनानेकी ओर कतई ध्यान नहीं देते। औषध बनानेपर आप जोर देते हैं; परंतु स्वास्थ्यके नियमोंकी ओर आपका ध्यान ही नहीं जाता, मानो स्वास्थ्य इन्जेक्शन या औषधके रूपमें शीशीमें बंद है अथवा फार्मेसी या डाक्टरके नुस्खेमें मिल सकता है।

न्यूनतम औषध ही स्वास्थ्य है

अधिक-से-अधिक औषधें अधिक-से-अधिक स्वास्थ्य प्रदान करती हैं, ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता। हाँ, कम-से-कम और न्यूनतम औषध ही स्वास्थ्यकारी हो सकती है। इसलिये सर्वोत्तम स्वास्थ्य बनाइये; क्योंकि तन्दुरुस्ती हजार न्यामत है।

मन और शरीररूपी लेबोरेटरी

आप स्वयं अपना स्वास्थ्य अपने स्वयंकी प्रयोगशालामें बना सकते हैं और फिर वह कोई भी क्यों न हो, वह स्वयं ऐसा कर सकता है। इस प्रकार स्वास्थ्य बनानेमें न तो कोई पूँजी ही लगती है और न कुछ खर्च ही होता है। मैं एक कटु सत्य कह रहा हूँ—वह कटु सत्य, जो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' 'सत्यमेव जयते' आदिमें संनिहित है। जगत्में

सत्य ही ईश्वर है । सदा ही सत्यके आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्यके कारण वायु चलायमान है, सत्यके ही कारण सूर्य आकाशमें चमकता है और चन्द्रमा शीतलता देता है। सत्यके ही कारण "शब्द"की उत्पत्ति हुई है। सत्य ही सबके मूलमें है। सत्य ही सबसे श्रेष्ठ है। सत्यसे बढ़कर दूसरी कोई भी उत्तम गति नहीं है। अतएव सत्य ही सबका केन्द्र है और सत्य यह है कि स्वास्थ्य, तन्दुरुस्ती आदि आपके 'मन और शरीररूपी लेबोरेटरी'में बनाये भी जा सकते हैं।

भावना और संस्कार

स्वास्थ्य बनानेके पहले आपके लिये सर्वप्रथम अपनी वृत्ति एवं अपने संस्कारोंको जानना आवश्यक है । जिस कर्मसे समाजकी शोभा बढ़ती है और समुदाय बनता है, वही संस्कार है । संस्कारके तीन भेद हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। इन सबमें मानसिक संस्कार प्रधान है। इसीका दूसरा नाम 'भावना' है । मनमें जो भी विचार आते हैं या भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, वे भी दो प्रकारके होते हैं—सत्य और असत्य।

सत्यकी भावना बराबर एक ही रहती है, परंतु असत्यकी भावना एक-सी न रहकर अभ्यासके कारण दृढ़ताकी ओर अग्रसर होती चली जाती है। सत्यकी भावना प्राकृतिक है। असत्यकी भावना अप्राकृतिक होकर विभिन्न चित्त-वृत्तियोंमें विभाजित हो जाती है । इसके पाँच भेद हैं । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश अर्थात् मृत्युभय। ये सभी झूठे हैं और कष्टदायक हैं।

सुसंस्कारके धरातलपर जब सत्यकी भावना अथवा विचार प्रबल रूप धारण करते हैं, तब मन विशुद्ध हो जाता है। उसके द्वारा किया हुआ कार्य यथार्थ-सा बन जाता है। यदि व्यक्तिविशेषमें अच्छे संस्कार हैं तो वह अपने समाजको उज्ज्वल कर सकेगा । यही सत्य भावना और विचार-संस्कार कहे जाते हैं।

कुसंस्कार तब उत्पन्न होते हैं, जब असत्यकी भावना अभ्यासके कारण दृढ़ हो जाती है । उसे दूर करनेके हेतु हमें केवल वैसे ही कृत्य करने चाहिये, जो असत्य भावनाके विरोधी हों; क्योंकि प्रकृतिमें कारण और कार्यका नियम सब क्षेत्रोंमें व्याप्त है। प्रत्येक कारणका परिणाम कोई-न-कोई अवश्य होगा। विज्ञानका नियम है कि क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया दोनों समान बलशाली रहती हैं; किंतु दिशा विपरीत होती है। यह नियम सत्य है और लोगोंमें समान रूपसे विद्यमान है। असत्य भावनाओंका विरोधी सत्यस्वरूप-परमात्माका 'ध्यान' है। परमात्माके ध्यानसे असत्य या झूठके संस्कार नष्ट होते हैं। हमारे चरित्रमें जो दोष हों, बुराइयाँ हों अथवा त्रुटियाँ हों, उन्हें समझकर शीघ्रातिशीघ्र त्यागनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उन्हें जीत लेनेका सतत उपक्रम होना आवश्यक है। असत्यकी आदत मिटानेके लिये हमें वाणी तथा व्यवहारमें सदा सत्यका अभ्यास करना चाहिये और हिंसात्मक भावको मिटानेके लिये तन-मन-वचनसे निरन्तर अहिंसाका मनन और पालन करना उचित है।

इस प्रकार सद्गुणोंके आश्रयसे दुर्गुणोंको दूर करनेका प्रयत्न सतत करना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब इसके लिये निरन्तर सचेष्ट रहा जाय । जो भावना तथा कर्म ईश्वरके अधिक समीप ले जायँ, वे ही पुण्य हैं और जो उससे दूर यानी विमुख करा दें, वे ही पाप हैं।

आस्तिक वर्गके संस्कार

ईश्वरको माननेवाला मनुष्य ईश्वरके भयसे पाप नहीं करता और उसपर निर्भर हो जाता है, जिससे उसके हृदयमें निर्भयता, धीरता और गम्भीरता आदि अनेकों सद्गुण स्वयं ही आ जाते हैं । ईश्वरके चिन्तनसे अनायास ही सारे दुर्गुण, दुराचार और पापोंका नाश होकर उसके हृदयमें सद्गुण, सदाचार आ जाते हैं । परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति होकर अन्तमें उसे उत्तम-से-उत्तम गति मिलती है। ये ही संस्कार आस्तिक कहे जाते हैं।

नास्तिक वर्गके संस्कार

ईश्वरको न माननेवालेके हृदयमें दुर्गुण, दुराचार, पाप आदि घर कर लेते हैं। उसे किसी परिणामका भय नहीं रह जाता, फिर वह पापकी ओर सहज ही प्रवृत्त क्यों न हो? वह पापकार्यके हेतु कटिबद्ध हो जाता है और अन्तमें उसे उन पापोंके फलस्वरूप दुःखकी प्राप्ति अवश्य होती है, जिसके कारण उसे चिन्ता, शोक, संताप, भय आदि सताते रहते

हैं और जब वह मृत्युको प्राप्त होता है, तब उसे दुर्गति मिलती है ।

आयुर्वेदके प्रकाण्ड पण्डित चरकका दृष्टिकोण है—कि रोगोंका आश्रय मन और शरीर है ।

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः ।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः ॥

अर्थात् शरीर और मन—ये दोनों ही रोगके आश्रय माने गये हैं । कोई रोग केवल शरीरका आश्रय लेता है—जैसे कुष्ठ और कोई रोग केवल मनका सहारा लेता है, जैसे काम आदि तथा कोई रोग मन तथा शरीर दोनोंका ही आश्रय ग्रहण करता है, जैसे उन्माद । यह बात ठीक है कि शारीरिक व्याधिका मनपर तथा मानसिक व्याधिका शरीरपर प्रभाव पड़ता ही है । परंतु उन्माद आदि रोगोंमें मन एवं शरीर दोनों दोष-दुष्ट होते हैं अतएव उन्माद आदिको कभी-कभी मानस रोग भी कह दिया जाता है । इसमें प्रथम मनोभ्रंश होता है, पश्चात् प्रवृद्ध रज और तमके कारण, सत्त्वके दब जानेसे वातादि दोष बुद्धिस्थान, हृदय और मनोबल स्रोतोंको दूषित कर देते हैं । मन और आत्मा जैसे रोगके आश्रय हैं, उसी प्रकार सुख अथवा आरोग्यके भी आश्रय हैं ।

अध्यात्मका दृष्टिकोण

उपर्युक्त कथनसे हमें यह तो परिज्ञात हो ही गया कि मन और शरीररूपी प्रयोगशालामें ऐसी कोई वस्तु न बने, जो मन और शरीरके लिये हानिकारक हो और जो भी कुछ हानिप्रदाता गैस आदि उसमें भर जायँ, उनको बाहर निकाल देना परम आवश्यक है; अन्यथा प्रयोगशाला न जाने किस दिन बैठ जायगी । इसके लिये हमें तीन बातोंका ध्यान रखना है ।

सफलताके पथमें जप, तप, साधना

वे हैं—पहली इच्छा (यानी प्रबल इच्छाकी जागृति)। दूसरी, आदत (यानी संयमका अभ्यास) । तीसरा, व्यवस्थित जीवन (अर्थात् नियमानुवर्तिता) । सबसे पहले आप अपने-आपमें तीव्र इच्छा-शक्ति उत्पन्न करें; क्योंकि मूलके बिना वृक्ष नहीं होता । इसके द्वारा आप अपनी बुरी आदतोंपर गौर करें कि कौन-सी आदत आपको बीमार बनानेमें सहायता दे रही है । उसे भरसक दूर करनेकी कोशिश करें । इसके पश्चात् आवश्यक यह है कि आपका जीवनक्रम यानी दिनचर्या नियमित होनी चाहिये । जब आप इन बातोंपर ध्यान देने लग जायँगे, तो स्वास्थ्य अपने-आप आपके शरीरमें प्रस्फुटित होने लगेगा । यह स्वास्थ्य नामकी वस्तु आपको बिजलीका बटन दबानेसे नहीं मिलेगी । इसके लिये आपको सतत अभ्यास करना होगा ।

सत्-चित्-आनन्द

बिन्दु-बिन्दुसे घड़ा भर सकता है, उसी प्रकार लगातार अपनी सद्-इच्छाओंको तीव्र करने तथा प्रबल बनाने, गंदी और भद्दी आदतोंके प्रति उदासीन रहने और सत्यके मार्गपर चलते हुए सभी काम उत्तमतासे करने तथा समयानुसार संयम रखनेसे आपके शरीरमें एक शक्ति प्रवाहित होने लगेगी और आप देखेंगे कि आप शनैः-शनैः नीरोग होते चले जा रहे हैं, स्वास्थ्य-लाभ होता जा रहा है । पहलेकी अपेक्षा अब आप कहीं अधिक चंगे नजर आने लगे हैं । इस क्रमको आप जारी रक्खें—मास-पर-मास और वर्ष-पर-वर्ष । कुछ समय बाद आप अपने आपको एक 'नये जन्म' के रूपमें देख सकेंगे । इसमें किंचित् मात्र भी शङ्का नहीं करनी चाहिये ।

अपूर्व शक्ति एवं सफलता

इस प्रकार आपको स्वास्थ्यके अतिरिक्त अपने आपमें शक्तिके प्रभावका ज्ञान होगा, जिससे आप अपना प्रत्येक कार्य हर्ष और सफलताके साथ सम्पन्न कर सकेंगे और अन्तमें आपको अपार सुखका अनुभव होने लगेगा ।

यदि आपने इन बातोंपर दृढ़तापूर्वक आचरण किया तो इसका आशय यह होगा कि आपने अनजानमें मुनियोंकी भाँति जप किया है, तप किया है और साधना भी की है ।

प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभु

(लेखक—प्रो० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र)

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति॥

मनुष्यके लिये परम धर्म है—'भगवान् विष्णुमें भक्ति। यह भक्ति अहैतुकी और अप्रतिहता होनी चाहिये। भगवान्ने गीतामें आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—इन चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी भक्तको सर्वश्रेष्ठ कहा है। ज्ञानी भक्त भगवान्का प्रिय पात्र होता है। भगवान्के साथ वह नित्ययुक्त होता है। एकमात्र भगवद्भक्तिके अतिरिक्त और कुछ भी उसके लिये काम्य नहीं होता। वह सर्वान्तःकरणसे भगवान्की भक्ति करता है, लौकिक या पारलौकिक किसी सुखकी कामना नहीं करता। भगवान्के प्रति ऐकान्तिक अनुराग उसके मनःप्राणको अभिभूत किये रहता है। ऐसे भक्त जिस देश, समाज और कुलमें जन्म ग्रहण करते हैं, उनके जन्मसे—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुंधरा पुण्यवती च तेन।

"उसका कुल पवित्र हो जाता है, उसकी जननी कृतार्थ हो जाती है और उसकी जन्म-भूमि पुण्य-भूमि बन जाती है।" नारदके भक्ति-सूत्रमें कहा गया है—

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ते देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति।

भक्तके जन्म लेनेपर उसके पितर आनन्दित होते हैं, देवतागण आह्लादित होकर नृत्य करने लगते हैं और यह पृथिवी सनाथा बन जाती है। मनमें भक्ति-भाव उदित होनेपर समस्त वासनाएँ शमित हो जाती हैं, आकाङ्क्षाएँ परितृप्त हो जाती हैं—यहाँतक कि पुरुषार्थ-चतुष्टयमें परम काम्य मोक्ष भी तुच्छ प्रतीत होने लगता है।

यं लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति।
(नारद-सूत्र)

भक्तके हृदयमें भक्ति-भाव सघन हो जानेपर वह सिद्ध हो जाता है और अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। तुलसीदासजी कहते हैं—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, पद न चहौं निर्बान।
जन्म जन्म रति राम पद यह बरदान न आन॥

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—कुछ नहीं चाहिये। जन्म-जन्मान्तरमें भगवान्के चरणोंमें लौ लगी रहे—यही वरदान भगवान्से माँगते हैं। विनयपत्रिकामें कहते हैं—

हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।

पंद्रहवीं शताब्दीमें भगवान्के प्रति इस निष्काम भक्ति एवं अनन्य प्रेमका साक्षात् मूर्तिमान् उपदेश देनेके लिये महाप्रभु चैतन्यदेव इस धराधामपर आविर्भूत हुए थे। भगवान्के प्रति निवेदित अपनी एक कवितामें वे कहते हैं—'प्रभो! मुझे धन, जन, कवित्व, सुन्दरी पत्नी—कुछ नहीं चाहिये। जन्म-जन्मान्तरमें तुम्हारे पाद-पद्मोंमें अहैतुकी भक्ति बनी रहे, यही मेरी प्रार्थना है।' भक्त प्रह्लादकी उक्ति है—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥

"नाथ! चाहे जिस योनिमें मेरा जन्म हो, उसमें सदा तुम्हारे प्रति अविचलित भक्ति बनी रहे। भगवान्के प्रति इस अनन्य प्रेमका प्रचार करके श्रीचैतन्यदेवने अपने समयके जन-जीवनमें नव प्राणोंका संचार कर दिया था। उनके दिव्य जन्म-कर्मकी कथाएँ, उनके धर्मोपदेश, उनका लीला, कीर्तन साधारण जनोंके लिये परम श्रुति-मधुर एवं मङ्गलकारी सिद्ध हुए। गौराङ्ग प्रभुकी मधुर लीलाको जिस किसीने देखा-सुना, उसका

हृदय निर्मल एवं पवित्र हो गया। प्रेमकी दिव्योन्मादनामें वे नाम-कीर्तन करते-करते भावावेशमें नृत्य करने लगते थे, नेत्रोंसे अश्रुधारा विगलित होने लगती थी। भागवतमें ऐसे भक्तके सम्बन्धमें कहा गया है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

महाप्रभुके जीवनमें यह कथन सर्वथा चरितार्थ होता था।

श्रीचैतन्य भगवान्‌के प्रेममें इतने तल्लीन हो गये थे कि भोगैश्वर्य, नाम, यश, आत्मप्रशंसाकी उनमें लेशमात्र भी वासना नहीं रह गयी थी। त्याग एवं वैराग्यके वे मूर्तरूप थे। नाम-यश, अहंकार, आत्मश्लाघाको विषवत् त्याज्य समझते थे। भगवत्-प्रेममें आत्मविभोर होकर बाह्यज्ञान-शून्य बन गये थे—यहाँतक कि अपने शरीरकी भी सुध-बुध खो बैठे थे। नवद्वीप, वृन्दावन, पुरी और दक्षिण भारतकी यात्रामें उनका जीवन इतना त्यागमय एवं विरक्त हो गया था कि जन-साधारणका मस्तक उनके समक्ष भक्तिभावसे स्वतः नत हो जाता था। गौरवर्ण सुन्दर सौष्ठवयुक्त शरीर, घुँघराले बालोंसे शोभित मस्तक तथा पद्मपलाशलोचन चैतन्य जो नवद्वीपचन्द्रके नामसे विख्यात थे, अब मुण्डित मस्तक, शरीरपर एकमात्र वस्त्र धारण किये हुए धूलिधूसरित अवस्थामें श्रीजगन्नाथपुरीमें भगवत्प्रेममें पागल बनकर विचरण कर रहे हैं। नेत्रोंमें आनन्द-प्रेमाश्रु और मुखमण्डलपर दिव्य छटा। नदियावासी, जो उनके पूर्वके रूप-लावण्यसे परिचित थे, उन्हें संन्यासीके वेशमें देखकर संतप्त हो जाते थे। किंतु चैतन्यदेव प्रभु-प्रेममें इतने मग्न हो गये थे कि अब उनका ध्यान ही इस ओर कहाँ था कि लोग उनके सम्बन्धमें क्या सोचेंगे। दक्षिणके तीर्थोंकी यात्रा करते समय बालकगण पागल समझकर उनपर धूल फेंकते थे। वे आपसमें एक दूसरेसे कहते थे कि कृष्णप्रेममें पागल बना हुआ कोई संन्यासी जा रहा है। किंतु चैतन्यदेवका इधर ध्यान ही कहाँ था। मुखसे सतत श्रीकृष्ण-नामका उच्चारण हो रहा था। किसी-किसी स्थानपर वे बैठ जाते और कृष्णकी लीलाओंका भाव-विह्वल वाणीमें वर्णन करने लग जाते। स्त्री-पुरुष उन्हें घेरकर बैठ जाते और उनके मुखसे विनिस्सृत कृष्णकथामृतका पान करके आत्मतृप्ति लाभ करते। उनके अन्तरसे भक्ति-भावोद्रेकयुक्त वाणी निकलकर श्रोताओंके मर्मको प्रभावित किये बिना नहीं रहती।

चैतन्यदेवने धर्म एवं दर्शनके ग्रन्थोंका विधिवत् अध्ययन किया था। उनका पाण्डित्य अगाध था। किंतु इस पाण्डित्यके साथ प्रज्ञा एवं हृदयकी रसानुभूतिका सम्मिश्रण होनेसे वह मात्र प्रदर्शनके लिये भारवाही पाण्डित्य नहीं था। उनमें भेद-बुद्धि तिरोहित हो गयी थी। जीवमात्रमें भगवान्‌के रूपका प्रकाश उन्हें दीख पड़ता था। गीतामें पण्डितका लक्षण कहा गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

ईश्वरप्रेमिक योगयुक्तात्मा चैतन्यदेव इसी कोटिके पण्डित थे, जिनकी दृष्टिमें विद्वान् ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चण्डाल—सब ईश्वर-अंश होनेके नाते एक-समान थे। उनमें समदर्शिता थी। इसलिये जीवमात्रपर उनके प्रेमवारिकी वर्षा होती थी। उन्होंने मुक्त कण्ठसे घोषणा की थी—

चण्डालोऽपि द्विजश्रेष्ठो हरिभक्तिपरायणः।

हरिभक्तिपरायण चण्डाल भी हरिभक्तिविहीन द्विजसे श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने भी तो गीतामें कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥

चाहे कितना भी बड़ा दुराचारी हो, यदि अनन्य-भावसे मेरा भजन करे तो उसे साधु मानना चाहिये;

क्योंकि उसने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है कि भगवान्‌के भजनके समान और कुछ भी नहीं है।

भक्ति एवं प्रेमके आधारपर चैतन्यदेवने अपने धर्मका प्रचार किया था। उनके विचारसे सब प्रकारके बाह्य आकर्षणसे मनको विमुक्त करके निर्मल चेतनवृत्तिको भगवान्‌में संलग्न करनेसे प्रेमभक्तिका उदय होता है। विशुद्ध आत्माका सहजात धर्म सच्चिदानन्दस्वरूप है। भक्ति ही एकमात्र जीवको भगवान्‌की चरणसेवामें तल्लीन करती है। सब प्रकारकी कामना-वासनाओंका त्याग करके सर्व-इन्द्रियोंको कृष्णानुशीलनमें प्रवृत्त करना जीवहृदयका स्वाभाविक धर्म है। उन्होंने जिस धर्मका प्रचार किया था, वह स्त्री-पुरुष, पण्डित-मूर्ख, धनी-दरिद्र, जाति-धर्म निर्विशेष सब श्रद्धालु जनोंके लिये उपादेय सिद्ध हुआ। विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओंको स्वीकार करते हुए उन्होंने अपना यह स्थिर मत व्यक्त किया कि जीव और ब्रह्ममें भेद और अभेद दोनों हैं। मनुष्यकी बुद्धिके लिये यह अगम्य है। अतः जीवको अपने हृदयमें अचल भक्तिभाव धारण करके एकमात्र श्रीकृष्णके ही शरणापन्न होना चाहिये।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—यही कल्याणका मार्ग है। इस दृष्टिसे वे श्रीमद्भागवत-को सम्पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञानका अक्षय स्रोत मानते थे। शङ्कर, रामानुज, मध्व आदि विभिन्न आचार्योंने अपने-अपने चिन्तन-मननके अनुकूल ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या की है, जिसके फलस्वरूप भारतमें विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायोंका प्रवर्तन हुआ। किंतु सब प्रकारकी विचारधाराओंका अपूर्व समन्वय श्रीमद्भागवतमें देखनेको मिलता है। ईश्वर-तत्त्वके विचारमें यह सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है और यह ईश्वरतत्त्व श्रीकृष्ण हैं जो अनन्त, अचिन्त्य, अप्राकृत तत्त्व होनेपर भी अपनी चिन्मय शक्तिद्वारा साकार, सगुण रूप धारण करते हैं और अपने वृन्दावनवासी पार्षदोंके सहित नित्य-लीलाविलासमें रमणशील रहते हैं। इस प्रकार महाप्रभुने अपने दार्शनिक विचारको शुष्क बुद्धिवाद एवं आचार-अनुष्ठानके बाहुल्यसे मुक्त करके भक्तिभावनाके पुटद्वारा उसे सरस एवं सर्वजनग्राह्य बना दिया था। भक्ति ही साध्य एवं साधन है। यही परम तत्त्व है। भगवत्प्रेम ही एकमात्र उपेय वस्तु है। भगवान्‌का सतत ध्यान और नामसंकीर्तन ही मनुष्यके लिये इस कलि-कालमें मनःशान्ति प्राप्त करनेका उपाय है।

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

हरिनामकीर्तनपर वे बहुत अधिक जोर देते थे। कारण, कीर्तनद्वारा ही भक्त भगवान्‌के समीप उपनीत हो सकता है। उनका कथन था—

नामेर फले कृष्णपदे प्रेम उपजाय।

भक्त हरिदास प्रतिदिवस तीन लाखसे अधिक कृष्ण-नामका जप करके अन्न-जल ग्रहण करते थे। श्रीचैतन्य-देवको जब यह मालूम हुआ, वे दौड़े-दौड़े उस भक्तके पास गये और उनका प्रेमालिङ्गन किया; कहा, 'तुम्हारे स्पर्शसे पवित्र हुआ। तुम क्षण-क्षण सकल पुण्यतीर्थोंमें स्नान और तप-दान करते हो।' भगवान्‌के नामश्रवण, विग्रहदर्शन एवं नामोच्चारणमात्रसे भक्तप्रवर चैतन्यदेवके शरीरमें रोमाञ्च होने लगता था, बार-बार भावावेशमें आ जाते थे, नृत्य करने लगते थे और कुसुमादपि कोमल-हृदय बन जाते थे। उनमें अपर जनोंमें भाव संचारित करनेकी अपूर्व शक्ति थी। उनकी भगवदनुभूति इतनी गम्भीर एवं तीव्र थी कि जो भी उनके सांनिध्यमें आता एक अभूतपूर्व शक्तिका अनुभव करता और उसके जीवन-की गति-मतिमें परिवर्तन हो जाता। महाप्रभुके सम्पर्कमें आकर रूप और सनातनने, जो उच्चपदस्थ राजकर्मचारी थे, पदत्याग कर दिया, महाप्रभुके प्रधान सहचर हुए और महाप्रभुने उनका उद्धार किया। जडवादी, नास्तिक, भक्त, कवि, दार्शनिक सब समान भावसे उनके द्वारा प्रभावित होते थे। यहाँतक कि विधर्मी भी उनके प्रगाढ़

ईश्वरप्रेमको देखकर अपने मनमें एक दिव्य अनुप्रेरणा लाभ करते थे।

मुसल्मान शासकका आदेश हुआ कि नवद्वीपमें हरिकीर्तन बंद कर दिया जाय। श्रीचैतन्यदेवने इस आदेशको सुना। शान्तभावसे नित्यानन्दको कहा—नवद्वीपकी समस्त जनताको सूचित कर दो कि निमाई (महाप्रभुका घरका नाम) काजीके आदेशको अमान्य करेंगे। दूसरे दिन सम्पूर्ण नगर नर-नारियों और बालक-बालिकाओंकी नाम-ध्वनिसे मुखरित हो उठा। काजीका महल, सैन्यनिवास कीर्तन करनेवालोंसे घिर गया। सब लोगोंके सामने चैतन्यदेवने काजीसे प्रश्न किया। तुम्हारे आदेशका कारण क्या है? काजीने नतमस्तक होकर अपराध स्वीकार किया। इतना ही नहीं, यह भी कहा कि 'मुझे अपने साथ हरिनाम उच्चारण करनेकी अनुमति दीजिये।' भक्तिके इस चमत्कारको देखकर सब लोग विस्मय-विमुग्ध हो गये।

महाप्रभु चैतन्यदेवके जीवनकी प्रधान विशेषता थी भगवान् श्रीकृष्णके पदाम्बुजोंमें उनका आत्मसमर्पण। कृष्णप्रेमामृतपान करके उनका जीवन कृष्णमय बन गया था। हमारे लिये वे जो अमूल्य उपदेश छोड़ गये हैं वह है—'अनवरत प्रयत्नोंके द्वारा मनुष्य लौकिक सुख-भोगकी चाहे जितनी वस्तुएँ प्राप्त कर ले, किंतु भगवत्-प्रेम एवं भक्तिलाभ करना अत्यन्त कठिन है। इस दुर्लभ रत्नको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है अहर्निश हरि-नामका कीर्तन। भगवान्‌के प्रति प्रेम और भक्तिका यही सर्वोत्तम उपाय है।' ईश्वरकी शरणागति, उनका स्मरण-चिन्तन यही परम पुरुषार्थ है। फाल्गुन पूर्णिमा महाप्रभुके आविर्भावकी पुण्यतिथि है। *

गोरक्षा-सत्याग्रह एक बार स्थगित

सरकारने गोरक्षाके सम्बन्धमें एक १२ सज्जनोंकी समिति बनायी है, उसमें गोरक्षा-महाभियान समितिकी ओरसे भी तीन सदस्य हैं—(१) जगद्गुरु शंकराचार्य महाराज पुरी, (२) श्रीरमाप्रसाद मुखर्जी, भूतपूर्व न्यायाधीश, कलकत्ता उच्च-न्यायालय और श्रीमाधवराव सदाशिव श्रीगोलवलकर, सरसंघ-संचालक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ। यह समिति छः महीनेमें अपनी रिपोर्ट देगी। यद्यपि कुछ महानुभावोंका यह मत था कि सत्याग्रह चालू रखना चाहिये और इसके लिये बड़ी संख्यामें साधु-महात्मा तथा गाँवोंके लोग तैयार थे। कुछ शिथिलता आयी थी तो प्रायः नेताओंमें आयी थी, जनतामें नहीं। गौके नामपर हिंदू जनता आज भी अपना बलिदान देनेको तैयार है। कुछ सज्जन तो इस सफल तैयारीमें थे कि १५ अगस्तको एक बहुत बड़ा लाखों नर-नारियोंका दिल्लीमें पुनः प्रदर्शन हो—लालकिलेपर जुलूस जाय और लाखों सत्याग्रही जेल जायँ।

कुछ सज्जनोंका यह कहना था कि इस समय सत्याग्रह स्थगित करनेका अर्थ यह समझा जायगा कि 'जेलमें मार पड़नेसे सत्याग्रह बंद हुआ है, दो महीने पहले मार पड़ती तो पहले बंद हो जाता।' यद्यपि ऐसा है नहीं, क्योंकि मार खाये हुए सत्याग्रही सज्जनोंमें साहस गिरनेकी बात तो दूर, उनमें तो उत्साहकी तरंगें उठ रही हैं। स्वयं मुझसे अस्पतालोंमें कई घायल सत्याग्रहियोंने कहा कि 'सत्याग्रह बंद नहीं करना। हमलोग तो गोहत्या सर्वथा बंद न होनेतक न लौटनेका प्रण करके आये हैं।' तथापि भारत-सरकारकी एकाधिक बारकी प्रार्थना तथा सहयोग एवं सद्भावनाकी ओर हाथ बढ़ानेकी नीतिको दृष्टिगत करते हुए सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समितिकी सर्वोच्च सत्ता तथा कार्यसमितिने सर्वसम्मतिसे सरकारद्वारा गठित बारह सदस्यीय गोरक्षा-समितिका स्पष्ट निर्णयात्मक संकेत प्राप्त होनेतक सत्याग्रह स्थगित करनेका निर्णय किया है, जिससे दोनों ओरसे शान्त वातावरणमें गोहत्या-बंदीका समुचित निर्णय हो।

इस प्रकार 'सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान समिति'की ओरसे सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया है। आशा है कि सरकार तमाम मुकद्दमे उठाकर सब बंदियोंको छोड़ देगी तथा समितिका निर्णय सारे भारतमें गोवंशकी हत्या सर्वथा बंदीके पक्षमें कानून बनानेका होगा। भगवान्‌से यही प्रार्थना करनी चाहिये कि वे सबको सद्‌बुद्धि प्रदान करें और शीघ्र-से-शीघ्र गोहत्याके महापापसे भारतकी पवित्र भूमि सदाके लिये मुक्त हो जाय। देशमें जो स्थान-स्थानपर समितियाँ संगठित हुई हैं, उनको अभी अवश्य बनाये रखना चाहिये।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

* लेख फाल्गुनके अंकमें प्रकाशनार्थ आया था, पर वह अङ्क पहले छप चुका था। इससे उसमें नहीं जा सका।—सम्पादक

दिल्ली तिहाड़ जेलमें गोरक्षाके सत्याग्रही साधुओंपर अमानुषिक प्रहार !

गोहत्यानिरोध आन्दोलन चल ही रहा था । सत्याग्रह भी बराबर चालू था । गत २९ जून सन् १९६७ के दिन लगभग नौ सौ सत्याग्रही दिल्लीके तिहाड़ जेलमें थे। उनमें सनातनधर्मके प्रसिद्ध महात्मा श्रीकरपात्रीजी महाराज भी थे, जो कुछ ही दिनों पूर्व लगभग दो सौसे अधिक महानुभावोंके साथ सत्याग्रह करके जेल गये थे । इन महानुभावोंमें शास्त्रोंके विद्वान् बहुत बड़े विरक्त संन्यासी भी थे, जो केवल गो-माताके हत्यानिवारणके लिये ही सत्याग्रह करने आये थे ।

बड़े ही दुःखकी बात है कि गोरक्षाके इन अहिंसाव्रती सत्याग्रही महानुभावोंपर २९ जून संध्याको लगभग ७॥ बजे जेलके घृणित अपराधोंमें दण्डित कैदियों तथा जेल वार्डरोंके द्वारा जेल-अधिकारियोंकी उपस्थितिमें बर्बरतापूर्ण आक्रमण किया गया, उन्हें भयानक निर्ममता तथा राक्षसी क्रूरताके साथ मारा-पीटा गया । श्रीकरपात्रीजी उस समय मैदानमें प्रवचन कर रहे थे और सैकड़ों श्रोता सुन रहे थे । उन शान्तिसे बैठे हुए लोगोंपर तथा बैरकोंके दरवाजोंके ताले तोड़कर, दीवालोंसे अंदर फाँदकर लाठियों, जलती लकड़ियों, लोहेके छड़ों, चाकुओं तथा ईंटों-पत्थरोंसे अंधाधुंध प्रहार किया गया !

मैं स्वयं तिहाड़ जेलमें तथा अस्पतालोंमें घायल सत्याग्रहियोंको देखकर आया हूँ । इस प्रकार अमानुषी ढंगसे उन्हें मारा गया है कि कोई भी सहृदय पुरुष ऐसा न होगा कि उन्हें देखकर जिसका हृदय द्रवित न हो जाय और जिसके नेत्रोंमें आँसू न आ जायँ । कई लोगोंको तो ऐसी चोट लगी है कि वे जीवनभरके लिये लूले-लँगड़े हो गये हैं । मैंने स्वयं वहाँ खून जमाके निशान देखे हैं और जलती लकड़ियोंसे जले हुए अंगोंपर घाव देखे हैं । एक सज्जनका जबड़ा तोड़ दिया गया । एक सज्जनका एक हाथ पहले टूटा था, दूसरा भी तोड़ दिया गया । दोनों हाथ टूटे हुए एक सत्याग्रहीको मारा गया, मनुष्य मनुष्यपर इस प्रकार राक्षसी आघात कैसे कर सकता है ? हमारे पास बहुत-से घायल सत्याग्रहियोंके बयान हैं तथा उनके छायाचित्र भी हैं । उन्हें छापनेका विचार था पर यह कहा गया कि जाँचकमीशन बैठा है और जाँचके लिये पंजाब उच्चन्यायालयके अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश श्रीएस० एस० दुल्लतकी नियुक्ति भी हो चुकी है। उसकी जाँचके पहले ही सत्याग्रहियोंके बयान छप जानेपर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। इसलिये उन्हें अभी नहीं छापा गया । जाँचकमीशनकी जाँच हो जानेपर पता लगेगा उसका क्या निर्णय होता है । चेष्टा तो पहलेसे ही हो रही थी कि जाँचकमीशनके सामने प्रमाण न पहुँच सके, पर देखा जाय, क्या होता है ।

घटना क्यों कैसे हुई, यह तो भगवान् ही जानते हैं । दो पक्षके कैदियोंकी आपसकी लड़ाई होती तो दोनों ओरके लोगोंको चोट लगती, पर ऐसा नहीं हुआ । सुना गया कि डेढ़ घंटेतक वहाँ एलार्म घंटी बजती रही । एलार्म घंटी बजनेका अर्थ होता है कि जो कैदी बाहर हों, वे भीतर चले जायँ और अपने बैरकोंसे कोई बाहर न निकले । पर यहाँ तो दूसरी ही बात हुई—ज्यों-ज्यों एलार्म बजता था त्यों-ही-त्यों लोग बाहर आकर आक्रमण करते रहे। इस प्रकार निहत्थे पवित्र साधुओंपर राक्षसी प्रहार करना आकस्मिक घटना तो नहीं प्रतीत होती । पर यह किसके द्वारा नियोजित थी, यह भी नहीं कहा जा सकता । कुछ लोगोंका कहना है कि इसमें किसी बड़े उच्च अधिकारीका हाथ है । कुछ लोग कहते हैं जेलके अधिकारियोंके द्वारा ही यह सब करवाया गया । उद्देश्य यही था कि लोग डर जायँ और सत्याग्रहके लिये पुनः न आवें । जो कुछ भी हो, डेढ़ घंटेतक लगातार घंटी बजती रही, प्रहार होता रहा और जेलके अधिकारीगणने कुछ भी नहीं किया । इतना ही नहीं, इस भयानक दुर्घटनाके बाद गत ५ जुलाई १९६७को सायंकाल ५ बजे लगभग १०५ गोरक्षा-सत्याग्रही तिहाड़ जेलसे छूटे थे । वे जब जेलके मुख्य द्वारके बाहर आये तो एक गुंडेने उनमेंसे अनेक साधुओंको पीटा और कहा कि 'इस बार तो तुम्हारे हाथ-पैर तोड़े हैं; यदि दुबारा आओगे तो सिर फोड़ देंगे'⋯कुछ समय बाद जेलके एक अधिकारी बाहर आये और उस गुंडेने उनसे अलगमें बातें कीं । उसके बाद फिर उसने घमासान रूपमें सबको मारना शुरू कर दिया । तदनन्तर वह गुंडा दीवारके साथ बनी हुई जेलकी एक कोठीमें चला गया ।

२९ तारीखकी घटनापर इतना होहल्ला मचनेके बाद भी जब दुबारा जेलके दरवाजेके बाहर ही सत्याग्रहियोंको पीटा जाता है, तब सहज ही यह संदेह हो ही जाता है कि किसी प्रभावशाली पुरुषकी योजनासे ही यह महापाप हुआ होगा !

श्रीकरपात्रीजीकी एक आँखमें ज्यादा चोट लगी है । उसमें अभी दृष्टि नहीं आयी है । डाक्टरोंका मत है—आ भी सकती है, नहीं भी । उनकी पीठपर लाठी या लोहेके छड़की चोट है । वे बता रहे थे नीचेकी चोटके कारण भीतर बहुत वेदना है । स्वामीजी श्रीशंकरानन्दजीने जेल-अस्पतालमें बतलाया कि कुछ साधुओंने श्रीकरपात्रीजीके ऊपर होकर उनको बचा लिया, नहीं तो वे उन्हें सर्वथा मार ही डालना चाहते थे ।

यद्यपि जिनपर मार पड़ी है, हमारे शास्त्रोंके अनुसार

अदृष्टवश ही पड़ी है। प्रारब्धका भोग ही मिला है। प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे प्राप्त होता है—स्वेच्छासे, परेच्छासे और अनिच्छासे। यह 'परेच्छा' प्रारब्ध भोग है तथापि जिन्होंने प्रहार किया है, उन्होंने तो नवीन जघन्य दुष्कर्म किया है। पाप-कर्म तीन प्रकारसे सम्पन्न होता है—कृत, कारित और अनुमोदित—स्वयं करे, किसीसे कहकर करवाये और करनेवालेका समर्थन करे। अतएव यहाँ भी तीनों ही प्रकारके प्रहारक दोषी हैं और उन्हें इस पापका दण्ड अवश्य भोगना पड़ेगा। यहाँ चाहे कोई बच जायँ, पर विधाताके अनिवार्य विधानसे कोई बच नहीं सकता। श्रीकरपात्रीजी महाराजने पूछनेपर बताया कि 'हमारा अदृष्ट था'। यह वास्तवमें उनका साधुजनोचित विचार है। किसीके प्रति द्वेष नहीं, मारनेवालेके प्रति भी नहीं। पर मारनेवाले तो दण्डके पात्र हैं ही। भगवान् उनको सुबुद्धि दें, जिससे वे भविष्यमें ऐसे भयानक पाप न करें।

जाँचकमीशनका निर्णय भी आ ही जायगा। आशा करनी चाहिये कि जाँचका निर्णय सत्य तथा न्यायसंगत ही होगा। यद्यपि अधिकांश जाँचकमीशनोंका फल तो प्रायः विपरीत ही होता है, भगवान् सबको सन्मति दें, सबका सदा कल्याण करें। —हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीजुगलकिशोरजी बिड़लाका परम निर्वाण

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है कि 'भगवत्प्राप्ति-रूप योगकी तीव्र साधना करते-करते ही बीचमें जिसका प्रारब्धवश देहपात हो जाता है वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके निवासयोग्य श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होकर दीर्घकालतक वहाँ निवास करता है। तदनन्तर वह पवित्रजीवन श्रीमानोंके घरमें जन्म ग्रहण करता है।'

हमारे सम्मान्य श्रीजुगलकिशोरजी बिड़ला एक ऐसे ही परम योगी महानुभाव थे। ८५ वर्षकी आयुमें गत २३ जूनको नश्वर शरीरका त्याग करके वे परम निर्वाणको प्राप्त हो गये। मेरा लगभग ५५ वर्षसे अधिक समयसे उनके साथ परिचय था। मैंने सदा ही उनको साधारण वेश-भूषामें एक असाधारण महापुरुषके रूपमें देखा। वे जन्मसे ही असाधारण मानव थे। हिंदू सनातनधर्म, जिसे विश्वधर्म या आत्मधर्म कह सकते हैं—उनके जीवनमें मूर्तिमान् था। वे प्रसिद्ध धनी होकर भी अत्यन्त विनयी थे। परम उदार होकर भी अत्यन्त संकोची थे और समस्त सुविधाओंसे सम्पन्न होनेपर भी नियम-संयमके कट्टर पालन करनेवाले थे। विशुद्ध जीवन, विशुद्ध शरीर, विशुद्ध मृदुहास्यसमन्वित मुखमण्डल, विशुद्ध विचार, विशुद्ध क्रिया,—सभी कुछ उनका विशुद्ध था। उन्होंने प्रचुर धन उपार्जन किया, पर किया केवल और केवल धर्मकी सेवाके लिये। उनका प्रत्येक क्षण इसी विचारमें जाता था कि किस प्रकार हिंदू सनातनधर्मका उत्कर्ष हो, विस्तार हो—जिससे समस्त जगत्के प्राणी सबमें एक आत्माका अनुभव करके सच्चे सुख-शान्तिको प्राप्त हो सकें।

जब कभी मैं उनसे मिलता, वे हिंदूधर्मकी उन्नतिके सम्बन्धमें ही बात करते। साधु-महातमाओंकी सेवा करके भी वे यही पूछते। वे सचमुच धर्मके लिये जीवन धारण कर रहे थे। जीवनभर उन्होंने हिंदू-धर्मकी सेवा की, करवायी—सभाओंके द्वारा, उपदेशकोंके द्वारा, संस्थाओंके द्वारा, पाठशाला-विद्यालयोंके द्वारा, संत-महात्माओंकी सेवाके द्वारा और बड़े-बड़े मन्दिरों आदिके निर्माणके द्वारा, आर्थिक सहायताके द्वारा, विविध प्रकारसे, विविध रूपोंमें, विविध प्रान्तों-देशोंमें, विभिन्न प्रकारके पुरुषोंके विभिन्न मतावलम्बियोंमें, विविध प्रकारसे नित्य सक्रिय सहयोग देकर।

वे जीवित हिंदूधर्मके रूपमें जन्मे थे, जीवित हिंदूधर्मके रूपमें उन्होंने जीवन धारण किया और जीवित हिंदूधर्मके रूपमें ही—धर्मकी ज्योतिको बढ़ाते हुए वे दिव्य देशको चले गये अत्यन्त धीरताके साथ हमारे सामने परम आदर्शको रखकर।

मैं सदा ही उनके गुणोंपर मुग्ध रहा और वे—वे मुझे इतना स्नेहदान करते रहे कि जिसकी कहीं कोई सीमा नहीं। वे चले गये, मुक्त हो गये। पर मैं गीताप्रेस तथा कल्याणके नित्य महान् शुभ चिन्तक और अपने एक परम हितैषी परम सुहृद् बड़े भाईके पवित्र स्नेहसे वञ्चित हो गया! —हनुमानप्रसाद पोद्दार

पढ़ो, समझो और करो

(१)

गोमाताकी रक्षा करनेवाले मुसल्मानकी गोमाताने प्रत्यक्ष प्रकट होकर रक्षा की

तपामंडी तहसील बरनाला जिला संगरूरमें एक मुसल्मान सज्जन रहते हैं जो गोमाताके बड़े परम भक्त हैं। उन्हींके जीवनकी यह सत्य घटना है। सन् १९४७ में हिंदुस्थान-पाकिस्तानके बँटवारेके समय जब समस्त देशमें भयंकर मार-काट मच रही थी तो उस घोर भयंकर विपत्तिके समयमें उन मुसल्मान सज्जनके प्राणोंकी रक्षा गोमाताने स्वयं प्रकट होकर कैसे अद्भुत ढंगसे की, इसके सम्बन्धमें स्वयं उन मुसल्मान सज्जनने सद्गुरु महाराज श्रीजगजीत सिंहजीको सुनाते हुए बताया—

सन् १९४७ से कुछ दिनों पूर्वकी बात है कि कुछ मुसल्मान कसाई बूचड़ोंको मैंने एक बहुत दुबली-पतली गाय ले जाते देखा। वे उसे काटनेके लिये ले जा रहे थे। मुझे उस गायको देखकर बड़ी दया आयी और मैंने उनसे वह गाय मोल देनेके लिये कहा। उन कसाइयोंने मुझसे अपनी उस गायके दाम २०) रुपये माँगे। मेरे पास उस समय बीस रुपये थे नहीं। मैं बड़ा गरीब आदमी था; फिर भी मैंने गायके प्राण बचानेकी सोची और मैंने अपने घरपर जाकर अपनी भौजाईसे एक सोनेकी चीज ली। उसे किसीके यहाँ गिरवीं रखकर बीस रुपये प्राप्त किये और वह गाय उनसे खरीद ली। मैंने उस कसाइयोंके हाथोंसे बचायी गयी गायको अपने घरपर नहीं रखा; क्योंकि मैंने यह बचानेका काम घरवालोंसे बिना पूछे चोरीसे किया था। जब वह गाय ब्यायी तो अपने घरपर लानेपर दूधके लालचसे किसीने भी इन्कार नहीं किया। कुछ साल बाद उस गायको अपने पास रखकर फिर उसे मैंने ऐसी जगहपर बेच दिया कि जहाँ फिर उसको किसी प्रकारका कष्ट न हो और उसके जीवनको किसी प्रकारका भी खतरा न हो।

सन् १९४७ में हिंदुस्थान-पाकिस्तानका बँटवारा हुआ तो सभीको यह मालूम है कि उस समय एक बहुत बड़ा कत्लेआम हुआ था और उस समय हिंदू-मुसल्मान एक दूसरेके खूनके प्यासे बन गये थे। मुसल्मानोंने हिंदुओंको और हिंदुओंने मुसल्मानोंको मारा-काटा था। हम मुसल्मान वहाँपर थोड़ी संख्यामें थे तो जब हमपर हमला हुआ तो हम हिंदुओंके उस हमलेसे डरकर एक मकानके अंदर घुस गये और अंदरसे उस मकानकी सांकल लगा ली। लोगोंने मकानको घेरकर उसमें आग लगा दी। मकानमें आग लगी देखकर सब लोग एकदमसे बाहर निकल गये। सिर्फ मैं ही अकेला उस मकानके अंदर रह गया, मकान धूएँसे भर गया। मकानके चारों ओर आग लगी थी। अब तो मैं बड़ा घबराया कि अब मेरे प्राणोंकी रक्षा इस समय कैसे होगी? अकस्मात् मैं उस समय क्या देखता हूँ कि जिस गायको मैंने कुछ दिनों पूर्व मुसल्मान कसाइयोंके हाथोंसे बचाया था, ठीक उसी प्रकारकी और ठीक उसी रंगकी गायकी पूँछ मेरे सामने घूमने लगी और अपनी पूँछसे उस धूएँसे और उस आगसे मेरी बराबर रक्षा करती रही। फिर जब वह आतंक समाप्त हुआ तो मैं बाहर निकल आया और मैं उस गायकी कृपासे जहाँ धाँय-धाँय प्रज्वलित अग्निके बीचसे जीवित निकला, वहाँ मैं आज भी जीवित हूँ और मैं अब इस समय पंजाबमें रह रहा हूँ।

यह है हमारी पूजनीया गोमाताकी भक्तिका महान् आश्चर्यजनक अद्भुत चमत्कार।*

बोलो गोमाताकी जय! बोलो सनातन धर्मकी जय!!

(२)

अद्भुत पतिव्रता

घटना अधिक पुरानी नहीं है, कुछ ही वर्षों पूर्वकी

* पिछले दिनों दिल्लीके 'गोरक्षा-सम्मेलनमें' भाषण देते हुए नामधारी सिक्ख-सम्प्रदायके सद्गुरु महाराज श्रीजगजीतसिंहजीने गोमाताके द्वारा प्रत्यक्ष प्रकट होकर एक मुसल्मान सज्जनकी प्राणरक्षाकी अद्भुत घटना सुनायी थी। मैंने वह घटना, जब महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध वारकरी सम्प्रदायके सत्य पूज्य श्रीकृष्णगोपाल बानखड़े गुरुजी महाराज कृपापूर्वक मेरे यहाँ पिलखुवा पधारे थे, उनको सुनायी। वे इसे सुनकर बड़े प्रभावित हुए और स्वयं मैनी साहब जाकर महाराज श्रीजगजीतसिंहजीसे मिले और पूरी घटना उनसे सुनकर मुझे लिखकर भिजवायी। वही ऊपर प्रकाशित है। मैं महाराजजीका अत्यन्त ही कृतज्ञ हूँ।

—भक्त रामशरणदास, पिलखुवा

बात है और अक्षरशः सत्य है। इसमें तनिक भी कल्पना नहीं है।

एक लड़का था, वह अपने परिवारसे बहुत दूर सरकारी कर्मचारी था। अच्छी कमाई थी। दूर होनेके कारण उसने पैसे बचाकर अपने पास ही इकट्ठे करने शुरू कर दिये थे। एक दिन घरसे पत्र आया कि तुम जल्दी-से-जल्दी घर आ जाओ, कोई दुर्घटना हो गयी है। लड़केने समझा कि शायद घरमें कोई मृत्यु हो गयी है। लड़का करीब दस हजार रुपये अपने साथ लेकर चला। तीन गुंडोंने इस बातको जान लिया और उससे उसका पूरा पता भी पूछ लिया। और उन्होंने भी उस पतेके अनुसार अपने रेलके टिकट ले लिये। पर भगवत्कृपासे लड़केको उनकी बुरी नीयतका पता चल गया। रास्तेमें उसकी ससुराल पड़ती थी, उसने वहींका टिकट ले लिया। लड़का ससुराल उतर गया और वे तीनों आगे चले गये।

लड़का अविवाहित था, उसकी केवल सगाई हुई थी। तो भी वह डरके मारे ससुराल चला गया। वहाँ जानेपर उसने सब हाल अपने सालाजी एवं सासुजीको सुना दिया। स्वयं किसी कामसे बाहर चला गया। इसी बीच उसके दोनों सालोंके और उसकी सासुके मनमें लोभ जाग उठा। उनकी नीयत बिगड़ गयी। लोभ पापका मूल है। उन्होंने जवाँईकी हत्या करके उसका धन अपहरण करनेकी पापपूर्ण योजना बनायी। दोनों सालोंने निश्चय करके अपनी माँसे कहा कि लड़केको इस कमरेमें सुला देना। हम दोनों बाहरसे आयेंगे और तैयार रहना, वे यों जिस समय कह रहे थे, उस समय वह कन्या भी वहीं थी, जिसका उस लड़केके साथ विवाह होना निश्चित था।

लड़का सोने लगा ही था कि उस कन्याने जाकर चुपकेसे कहा—'चलो उठो, अभी मेरे साथ चलो।' लड़केने सकबकाकर पूछा—'क्या बात है?' कन्याने कहा—'बस मेरे साथ चलो, नहीं तो अभी मार दूँगी।'

लड़का उठकर उसके पीछे हो लिया। उसने दूसरे कमरेमें ले जाकर उसे सुला दिया और कह दिया—'मैं जब कहूँ तब खोलना।' यों कहकर उस कन्याने किवाड़ बंद करके ताला लगा दिया और चाभीको अपने पास रख लिया।

उधर उस लड़कीका पिता बाहरसे आया, उसे पता नहीं था, वह आकर उसी खाटपर सो गया कि जिसपर पहले वह लड़का सोया था। उसको नींद आ गयी और ज्यों ही उसके पुत्र आये, बिना सोचे-समझे उन्होंने उसका वध कर दिया। फिर गड्ढा खोदा गया। उसके बाद तलाश की गयी कि रुपये कहाँ हैं। इतनेमें देखा कि जिसका वध किया वह तो उनका पिता ही है। ज्यों ही देखा त्यों ही वे रोने-चिल्लाने लगे और कहने लगे—जँवाईजी हमारे पिताका वध करके कहीं चले गये। बहुत चिल्लाये।

सूर्योदय होते ही थानेदार आ पहुँचा। उन्होंने बयानमें कहा कि हमारे जवाँईजी कल आये थे वे हमारे पिताको मारकर कहीं चले गये। थानेदार यह सब सुन ही रहे थे कि वह कन्या बोल उठी कि 'थानेदारजी! मेरी भी एक अर्ज सुनो—आप अभी हमारे घरमें तो गये नहीं, पहले अंदर चलकर देखिये।' जाकर देखते क्या हैं कि एक तरफ तो लाश पड़ी है और दूसरी ओर गड्ढा खुदा है। तब लड़कीने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। फिर ताला खोला और कहा 'ये मेरे पति हैं।' लड़केसे पूछा कि 'तेरे पास क्या है?' लड़केने जवाब दिया कि, 'मेरे पास दस हजार रुपये हैं।' फिर लड़केने सारी बातें सच-सच सुना दीं। दोनों साले पकड़े गये। उस लड़कीका विवाह करके उस लड़केके साथ भेज दिया गया।

छोटी-सी कन्याका यह पातिव्रत्य और साहस सराहनीय है!

—मोनालाल विद्यार्थी

(३)

करनीका फल

घटना लगभग दो-तीन वर्ष पहलेकी है। जिला बुलन्दशहरमें दादरीके समीप एक गूजरोंका ग्राम है, जिसमें एक पहलवान रहता था। अपने परिवारमें वह अकेला ही सदस्य था। भाई, बहिन, स्त्री, माता-पिता कोई भी घरमें न था। वह अपने पास एक भैंस रखता और दूध पीता। विधाताका विधान जैसा होता है, वह होकर ही रहता है। घरको छोड़कर जैसे ही वह बाहर जाता तो पीछेसे एक कुत्ता दीवालको लाँघकर उसके अग्निपर रक्खे हुए दूधको पी जाता। कुछ दिन व्यतीत होनेपर एक दिन कुत्ता आया और दूध पीने लगा। दैवयोगसे उस दिन वह पहलवान घरपर ही था। वह उक्त कुत्तेको देखकर मन-ही-मन जल उठा और कर्तव्याकर्तव्यका विचार न करके उसने चर्खामेंसे क्षुरप्र

तकुआ निकालकर उससे तुरंत उस कुत्तेकी आँखोंको फोड़ दिया। कुत्तेके नेत्रोंसे रुधिरधारा बह निकली। वह कुत्ता आँखें फूटनेके बाद १५ दिनोंतक बड़ी पीड़ा सहता रहा। ठीक पंद्रहवें दिन वह यमलोकका अतिथि बना!

किये हुए शुभ-अशुभ कर्मका फल यहाँ या वहाँ भोगना ही पड़ता है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

एक दिन वह पहलवान यमुनानदीके तटसे करीब एक मील दूर दराँतीसे झूँड़ काट रहा था, उसको करनीका फल दुगुना ही मिलना था। दुर्भाग्यवश वहाँपर उसकी दोनों आँखें तीक्ष्ण दराँतीकी धारसे फूट गयीं। वह अन्धा हो गया। एक मासतक वह भयानक पीड़ा सहता हुआ जीवित रहा। मासके अन्तिम दिन वह भी मर गया। करनीका फल हाथोंहाथ मिल गया!

—हेमराजसिंह शास्त्री वाचस्पति, विशारद

(४)

चिथड़ेमें लिपटा रत्न

लगभग चालीस वर्ष पहलेकी बात है। पालीतानामें कार्तिकी पूर्णिमाके दिन हजारों तीर्थयात्री उमड़ पड़े थे। सारी धर्मशालाएँ भर गयी थीं।

इसी भीड़में एक राजस्थानी बुढ़ियामाई भी यात्राके लिये आयी थी, अकेली ही थी। सामानमें उसके पास एक फटी-पुरानी साड़ीमें लपेटी हुई पोटली थी, जिसे वह बड़ी सावधानीसे सँभाले हुई थी। इस अकिञ्चन-सी दिखायी देनेवाली बुढ़ियामाईको किसी धर्मशालाके बरामदेमें भी टिकनेको जगह नहीं मिली। इसलिये उसने धर्मशालाके बाहरके चौकमें जैसे-तैसे रात बितायी।

अनाज और दूधकी बहुतायतके उस जमानेमें इस बड़ी यात्राके समय एक विशाल जीमनवार (भोज) हुआ करती और उसके लिये बम्बईके दो धनी पुरुष आवश्यक रकम दिया करते। इस बार किसी कौटुम्बिक कारणसे वे दोनों नहीं आ सके थे। अतः जीमनवार कदाचित् न हो—ऐसी चर्चा करते हुए कुछ यात्री दूसरे दिन सबेरे बुढ़ियामाईके समीपसे निकले। बुढ़ियामाईके कानोंमें आवाज गयी और वह तुरंत दौड़कर पहुँची वहाँकी व्यवस्थापक फार्मके मुनीमजीके पास। मुनीमने इस फटेहाल बुढ़ियामाईका स्वागत किया तथा वह किस कामके लिये आयी है, सहानुभूतिके साथ पूछा।

बुढ़ियामाईने जीमनवार बंद रहेगी या होगी—इस विषयमें पूछा। मुनीमने परिस्थिति बतला दी, तब बुढ़ियामाईने मुनीमसे कहा कि 'आप मेरी ओरसे जीमनवारका प्रबन्ध करा दीजिये।' मुनीमजी बुढ़ियामाईकी हालत देखकर इसे स्वीकार करनेमें हिचक रहे थे, इसी बीच बुढ़ियामाईने अपनी पोटली खोली। पाँच-पाँच तोले सोनेके दस पासे निकालकर मुनीमको देते हुए बोली—'मुनीमजी! यह पचास तोला सोना है। इससे जीमनवारका प्रबन्ध करके जो कुछ बचे सो गरीब तथा सुपात्रको गुप्त दान कर दें।'

पालीतानाके यात्रियोंमें इस बातके फैलते देर न लगी और चिथड़ेमें लिपटे रत्नको देखने तथा उसका वन्दन करने थोड़ी ही देरमें यात्रियोंकी भीड़ लग गयी। 'अखण्ड आनन्द'।

—झवेरभाई, बी० सेठ

(५)

एक चौकीदारकी भलाई

बात हालकी ही है। विक्रम विश्वविद्यालयके राजनीति विभागके अध्यक्षीय पदसे अवकाश ग्रहण करनेपर मैंने काशीमें निवास करनेका निश्चय किया। १५ अक्टोबरकी रातको कुल सामान ट्रकद्वारा उज्जैनसे भेज दिया और १६ अक्टोबरको मैं और मेरी धर्मपत्नी अपनी कारसे शिवपुरीके लिये रवाना हो गये। गाड़ीमें नाजुक चीजें-जैसे टाइपराइटर, रेडियो और कुछ कीमती चीजें जेवर आदि डिकीमें रख लिये थे। कुछ सामान गाड़ीके ऊपर बाँध लिया था। अभी गुनासे १८ मील दूर थे कि गाड़ी बम्बई-आगरा रोडपर करीब चार बजे शामको अकस्मात् रुककर खड़ी हो गयी। मेरे ड्राइवर गुलाबसिंहने समझा कि गियरमें कुछ गड़बड़ी है। परंतु अपनी कोशिशमें वह असफल रहा।

आसपास कोई भी आबादी नहीं थी। मिलों सिवा जंगलके और कुछ नज़र नहीं आता था। किंतु आश्चर्य कि जहाँ गाड़ी रुकी थी, करीब-करीब उसके सामने ही खटकियाका डाकबँगला था। मैंने चौकीदारसे बातचीत की। उसने सहर्ष बँगलेके कमरे खोल दिये। गाड़ीको धक्का देकर

बगलमें खड़ा कर दिया। यही नहीं, उसने आश्वासन दिया कि घबरानेकी कोई बात नहीं है। पहले भी लोगोंकी कारें खराब हुई थीं और उसने गुनाके एक चतुर कारीगर-को बुलाकर उन्हें ठीक करवाया। उसके यह कहनेपर हमें संतोष हुआ। रातको साइकिलपर एक मील जाकर वह चौकीदार एक भोजनालयसे हमारे लिये भोजन लाया और उसने अपनी गायका दूध हमें पीनेको दिया।

जो लोग पुरानी ग्वालियर रियासतसे परिचित हैं वे जानते हैं कि प्रजावत्सल माधव महाराजने अपने अफसरों और दीगर राहगीरोंके आरामके लिये कितने सुन्दर डाकबँगले बनवा दिये हैं। यह डाकबँगला भी बड़ा आरामदेह था। चारों ओर कुछ फासलेपर छोटी-छोटी पहाड़ियाँ थीं। वहाँ हमलोग चैनसे सोये।

सुबह उठनेपर मैंने चौकीदारको गुना रवाना किया। उसने मुस्तैदीसे कहा कि साहब मैं कारीगरको बारह बजेसे पहले ही लेकर यहाँ आ जाऊँगा। और वास्तवमें साढ़े बारह बजे सुल्तान अहमद और उसके साथ एक लड़का टूलबक्स लेकर आ पहुँचे। सुल्तान अहमद खुद भी एक लड़केकी ही उम्रका था। लेकिन अपने काममें निपुण। उसने कारको देखते ही कहा कि 'गियरमें कुछ खराबी नहीं, मालूम पड़ता है कि पहियेका धुरा टूट गया है।' उसका कहना ठीक था वह पहियेकी ओर टूटे हुए धुरेको वेलडिंग-के लिये गुना ले गया और साढ़े बारह बजे रातको वापिस आकर लालटेनकी रोशनीमें ढाई बजेतक फिट कर दिया। मैंने चौकीदारसे कहा था कि डाकबँगलेमें बिजलीकी रोशनी नहीं है। रातमें फिटिंग कैसे होगी। उसने कहा कि एक लालटेन आपके कमरेकी है और एक लालटेन मैं अपनी दे दूँगा। वास्तवमें दो लालटेनोंसे बड़ा काम चला। १८ तारीख को हमलोग फिर कारसे रवाना हुए और सकुशल काशी पहुँच गये। रास्तेमें और कोई घटना नहीं हुई।

मेरा अपना निजी विश्वास है कि खटकियामें जो घटना हुई, उसमें हमको निश्चय ही दैवी सहायता प्राप्त हुई। अगर हमारी गाड़ी डाकबँगलेके सामने न खड़ी होकर कहीं और खड़ी होती तो हमारी परीशानीका अनुमान किया जा सकता है। दूसरे वह चौकीदार कोई साधारण मनुष्य नहीं था, बल्कि ईश्वरका स्वरूप था। आजकलकी दुनियामें ऐसे लोग कम दिखायी देते हैं जो दूसरोंकी सेवामें उत्साहपूर्वक तत्पर हों।

—डा० प्रकाशचन्द्र (एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी० (लन्दन)

(६)

समृद्धिकी गुरु-चाभी

एक अमेरिकन फार्मने जापानमें अपना व्यापार आरम्भ किया और अपनी आफिसमें काम करनेके लिये उसने जापानके ही लोगोंको नियुक्त किया। साधारणतया अमेरिकामें कामके पाँच दिन होते हैं और शनिवार-रविवारकी छुट्टियाँ होती हैं। अमेरिकाकी रीतिके अनुसार इस फार्मने जापानमें भी वही नीति-रीति चलायी। सोमवारसे शुक्रवारतक काम और शनि-रविवारको छुट्टी। इसपर वहाँ काम करनेवाले सभी जापानी कर्मचारियोंने इसका विरोध किया। यह बात हम सभीको आश्चर्यमें डालने-जैसी है। कोई समझेंगे कि यह विरोध छुट्टियाँ बढ़ानेके लिये होगा। बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। विरोधका कारण समझमें नहीं आया। आखिर कर्मचारियोंसे पूछा गया—'आपलोगोंको क्या तकलीफ है?'

जानते हैं क्या दिया गया इसका उत्तर? उन लोगोंने कहा—'हमें दो छुट्टियाँ नहीं चाहिये, हमारे लिये एक ही छुट्टी काफी है।' कारण क्या बताया, यह भी सुनिये। 'यहाँकी जनता मानती है कि अधिक छुट्टियाँ होनेसे हम आलसी बन जायँगे। परिश्रम करनेमें हमारा मन नहीं लगेगा और इससे भी अधिक नुकसान तो यह होता है कि छुट्टीके दिन हमलोग अधिक मोज-मजे करते हैं ओर खर्च भी अधिक लगता है। जो छुट्टी हमें आर्थिक भारसे दबा दे और शरीर-सम्पत्तिको घटा दे, ऐसी छुट्टी हमारे जीवनमें नहीं खपती।'

कैसी नीरोग मनोदशा है। सचमुच इसी प्रजाको ऊँचा उठनेका अधिकार है। श्रमका जीवनके साथ गहरा अनुबन्ध है। इस प्रजाने जगत्के दूसरे देशोंको मेहनत करके बतला दिया कि कैसे टूटे-फूटे कचरेसे भव्यता प्राप्त की जा सकती है।

अपने यहाँ भी सब इसका अनुकरण करने लगें तो! इस समृद्धिकी गुरु-चाभी मिल गयी। श्रमका कितना औचित्यपूर्ण गौरव है! 'अखण्ड आनन्द'

—हंसा बहेन मो० पटेल

कल्याणका उपासना-अङ्क

लेख बहुत आ रहे हैं। एक-एक विषयपर बहुत-से। अतएव सब नहीं छप सकेंगे। सूचीके खास-खास विषयोंपर लेख भेजनेकी कृपा करें तथा ऐसी पौराणिक, ऐतिहासिक घटनाएँ भी लिखकर भेजें, जिनका उपासना-विशेषसे सम्बन्ध हो तथा जिनपर चित्र दिये जा सकें।

—सम्पादक 'कल्याण'

सूचना

कल्याणके सम्पादक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका स्वास्थ्य इधर ठीक नहीं है, इसलिये वे पत्रव्यवहार करनेमें असमर्थ हैं। अतएव विना विशेष कार्यसे उन्हें कृपया पत्र न लिखें और विना पहले समय नियत किये मिलनेके लिये भी न पधारें।

कल्याणके ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

इधर देशमें जो काम कम करनेकी दुष्प्रवृत्ति चली है, वह कुछ समयसे गीताप्रेसमें भी आ गयी है। सम्भव है—काम बंद हो जाय। इसलिये कल्याणके प्रत्येक ग्राहक महोदयसे यह नम्र निवेदन है कि प्रेस-बंदीके कारण यदि उन्हें कल्याणके शेष अङ्क न मिलें तो वे इतने ही अङ्कोंमें संतोष करें। एक विशेषाङ्क ही पूरे वर्षके मूल्यका है। अब तो डाक-व्यय भी इतना बढ़ गया है कि कल्याणमें वार्षिक खर्च बहुत अधिक लगेगा। यह विषय भी विचारणीय है।

रजि० सं० एल्० १७५

उच्च आध्यात्मिक स्तरपर प्रतिष्ठित भारत

अति [illegible]स्तरके भौतिक धरातलपर

त्याग और कर्तव्य	के स्थानपर	धन और अधिकार

सिद्धान्तका कोई मूल्य नहीं

१–विभिन्न विधानसभाओं, संसद् और सेक्रेटेरियटोंमें होनेवाले आये दिनके असाधारण शोर-गुल, हंगामे, गाली-गलौज, मारपीट, जूता-पैजार—

इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

२–छल, बल, कौशल और धनके द्वारा तथा बार-बार एक पार्टीके लोगोंका दूसरी पार्टीमें जाकर नयी सरकारमें अधिकार पानेका प्रयत्न—

इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

३–देशकी सीमाओंपर आक्रमणकारियोंकी बलवृद्धि, सैन्यसंग्रह, शस्त्रसंचय तथा घरमें भी इनकी सहायताके होनेवाले गोपनीय विशाल प्रयत्न आदिको देखते हुए भी, देशमें अन्नाभावसे मचे हुए हाहाकारको सुनते हुए भी, तमाम क्षेत्रोंमें नैतिक पतनको प्रत्यक्ष करते हुए भी केवल धन तथा अधिकारकी लिप्सासे अशोभनीय रूपमें परस्पर लड़ते-भिड़ते रहना—

इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

४–गैरकानूनी मनमानी उच्छृङ्खलताओं, घेरावों और दुराचरणोंके करने-कराने और प्रोत्साहन देनेकी हिंसापूर्ण प्रवृत्ति—

इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

इससे—

१–विश्वके अन्यान्य देशोंमें भारतकी प्रतिष्ठाको बहुत बड़ा धक्का लगता है।

२–जनतामें अविश्वास बढ़ता जा रहा है।

३–उच्चस्तरके संसद्सदस्य तथा विधायकोंकी और जननेताओंकी अनुशासनहीनता, अव्यवस्था, असद्व्यवहार, परस्पर दुर्वाक्योंके प्रयोग और हिंसावृत्तिको देखकर जनताका मानस-स्तर गिरता है और वह भी इसी प्रकार धन और अधिकारके लिये नये-नये दुर्विचार और दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त होती है।

४–भीतरी और बाहरी शत्रुओंका बल बढ़ता है। और—

५–सबसे बड़ी हानि होती है—मानवजीवनकी परम अमूल्य निधि आध्यात्मिकताका नाश और मानवताका पतन।

इससे बचिये—शीघ्र बचिये—और देशको बचाइये।

यही विनीत प्रार्थना है।